कोसी का घटवार

शेखर जोशी

नया साहित्य प्रकाशन
२-डी मिंटो रोड • इलाहाबाद

कॉपीराइट : शेखर जोशी
प्रथम-संस्करण : जुलाई, १९५८
पुस्तक-संख्या : ११
मूल्य : तीन रुपये
मुद्रक : भार्गव प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक : नया साहित्य प्रकाशन
२ डी, मिंटो रोड, इलाहाबाद

पूर्व-कथन :

पिछले दो-तीन वर्षों में लिखी गयी कहानियों में से कुछ कहानियाँ इस संग्रह में दे रहा हूँ।

इनमें से अधिकांश कहानियों की पृष्ठभूमि औद्योगिक अथवा पर्वतीय जीवन रही है। मेरे सम्मुख इसके दो कारण हैं :

परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में औद्योगिक संस्थानों की जो भूमिका रहेगी वह आज के बिखरते ग्रामीण जीवन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन आज भी सम-सामयिक कथाकारों एवं कथा-साहित्य के आलोचकों का ग्राम-कथा के प्रति जो आग्रह है उसका अंश मात्र भी औद्योगिक जीवन के प्रति नहीं दिखाई देता।

पर्वतीय प्रदेश के प्रति अपनी निजी आत्मीयता तथा उर्वर कल्पना वाले लेखकों द्वारा पर्वतीय नारी के अयथार्थ और वीभत्स चित्रण ने इस दिशा की कहानियों को लिखने की प्रेरणा दी है। आश्चर्य है कि आर्थिक दैन्य के अभिशाप में पले हुए कुछ पर्वतीय कथाकारों को भी इस कुत्सित प्रचार में सहायक होने की अपेक्षा उस जीवन की अन्य कोई समस्या नहीं दिखलाई दी।

इन कहानियों की रचना में 'स्टडी सर्किल' तथा 'कल्चरल फोरम' (दिल्ली) एवं 'परिचय' (प्रयाग) के मित्रों, साहित्यिक-अग्रजों का जो स्नेहपूर्ण सहयोग मिला है, उसके लिए उनका आभारी हूँ।

आभारी हूँ, उन परिस्थितियों एवं व्यक्तियों का, जो मेरे संवेदन को तीव्रतर बनाने में सहायक हुए हैं।

प्रयाग
जुलाई ५८

शेखर जोशी

अनुक्रम :

दाज्यू

चौक से निकल कर बायीं ओर जो बड़े साइनबोर्ड वाला छोटा कैफे है वहीं जगदीश बाबू ने उसे पहली बार देखा था। गोरा-चिट्टा रंग, नीली शफ़्फ़ाफ़ आँखें, सुनहरे बाल और चाल में एक अनोखी मस्ती—पर शिथिलता नहीं। कमल के पत्ते पर फिसलती हुई पानी की बूँद की सी फुर्ती। आँखों की चंचलता देख कर उसकी उम्र का अनुमान केवल नौ-दस वर्ष ही लगाया जा सकता था और शायद यही उम्र उसकी रही होगी।

अधजली सिगरेट का एक लम्बा कश खींचते हुए जब जगदीश बाबू ने कैफे में प्रवेश किया तो वह एक मेज़ पर से प्लेटें उठा रहा था और जब वे पास ही कोने की टेबल पर बैठे तो वह सामने था। मानो, घंटों से उन की, उस स्थान पर आने वाले व्यक्ति की प्रतीक्षा कर रहा हो। वह कुछ बोला नहीं। हाँ, नम्रता प्रदर्शन के लिये थोड़ा झुका और

मुस्कराया भर था, पर उस के इसी मौन में जैसे सारा 'मीनू' समाहित था। 'सिंगल चाय' का आर्डर पाने पर वह एक बार पुनः मुस्करा कर चल दिया और पलक मारते ही चाय हाजिर थी।

मनुष्य की भावनायें बड़ी विचित्र होती हैं। निर्जन, एकान्त स्थान में निस्संग होने पर भी कभी-कभी आदमी एकाकी अनुभव नहीं करता। लगता है, इस एकाकीपन में भी सब कुछ कितना निकट है, कितना अपना है। परन्तु इस के विपरीत कभी-कभी सैकड़ों नर-नारियों के बीच जनरवमय वातावरण में रह कर भी सूनेपन की अनुभूति होती है। लगता है, जो कुछ है वह पराया है, कितना अपनत्वहीन! पर यह अकारण ही नहीं होता। इस एकाकीपन की अनुभूति, इस अलगाव की जड़ें होती हैं—विछोह या विरक्ति की किसी कथा के मूल में।

जगदीश बाबू दूर देश से आये हैं, अकेले हैं। चौक की चहल-पहल, कैफे के शोरगुल में उन्हें लगता है, सब कुछ अपनत्वहीन है। शायद कुछ दिनों रहकर, अभ्यस्त हो जाने पर उन्हें इसी वातावरण में अपनेपन की अनुभूति होने लगे। पर आज तो लगता है यह अपना नहीं, अपनेपन की सीमा से दूर, कितना दूर है! और तब उन्हें अनायास ही याद आने लगते हैं अपने गांव-पड़ोस के आदमी, स्कूल-कालेज के छोकरे, अपने निकट शहर के कैफे-होटल........।

'चाय शा'ब!'

जगदीश बाबू ने राखदानी में सिगरेट झाड़ी। उन्हें लगा, इन शब्दों की ध्वनि में वही कुछ है जिसकी रिक्तता उन्हें अनुभव हो रही है। और उन्होंने अपनी शंका का समाधान कर लिया—

'क्या नाम है तुम्हारा?'

'मदन'

'अच्छा, मदन! तुम कहाँ के रहने वाले हो?'

'पहाड़ का हूँ, बाबू जी!'

'पहाड़ तो सैकड़ों हैं—आबू, दार्जिलिंग, मंसूरी, शिमला, अल्मोड़ा। तुम्हारा गांव किस पहाड़ में है?'

इस बार शायद उसे पहाड़ और जिले का भेद मालूम हो गया। मुस्करा कर बोला—

'अल्मोड़ा, शा'ब अल्मोड़ा'

'अल्मोड़ा में कौन-सा गांव है?' विशेष जानने की गरज से जगदीश बाबू ने पूछा।

इस प्रश्न ने उसे संकोच में डाल दिया। शायद अपने गाँव की निराली संज्ञा के कारण उसे संकोच हुआ था इस कारण टालता हुआ सा बोला, 'वह तो दूर है शा'ब, अल्मोड़ा से पन्द्रह-बीस मील होगा।'

'फिर भी, नाम तो कुछ होगा ही।' जगदीश बाबू ने जोर दे कर पूछा।

'डोट्यालगों' वह सकुचाता हुआ-सा बोला।

जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गयी और जब उन्होंने मुस्करा कर मदन को बताया कि वे भी उस के निकटवर्ती गांव '........' के रहने वाले हैं तो लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से 'ट्रे' गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलने चाह कर भी न निकल सके। खोया-खोया सा वह मानो अपने अतीत को फिर लौट लौट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो।

अतीत—गांव....ऊँची पहाड़ियाँ....नदी....ईजा (माँ)....बाबा.... दीदी....भुलि (छोटी बहिन)....दाज्यू (बड़ा भाई)....।

मदन को जगदीश बाबू के रूप में किस की छाया निकट जान पड़ी? ईजा?—नहीं, बाबा?—नहीं, दीदी,....भुलि?—नहीं, दाज्यू? हाँ, दाज्यू!

दो चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच की अजनबीपन की खाई दूर हो गयी। टेबल पर बैठते ही मदन का स्वर सुनाई देता—

'दाज्यू, जैहिन्द'

'दाज्यू, आज तो ठँड बहुत है'

'दाज्यू, क्या यहाँ भी 'ह्यूँ' (हिम) पड़ेगा'

'दाज्यू, आपने तो कल बहुत थोड़ा खाना खाया।' तभी किसी ओर से 'बॉय' की आवाज़ पड़ती और मदन उस आवाज़ की प्रतिध्वनि के पहुँचने से पहले ही वहां पहुँच जाता। आर्डर ले कर फिर जाते-जाते जगदीश बाबू से पूछता, 'दाज्यू कोई चीज ?'

'पानी लाओ'

'लाया दाज्यू' दूसरी टेबल से मदन की आवाज सुनाई देती।

मदन 'दाज्यू' शब्द को उतनी ही आतुरता और लगन से दुहराता जितनी आतुरता से बहुत दिनों के बाद मिलने पर माँ अपने बेटे को चूमती है।

कुछ दिनों बाद जगदीश बाबू का एकाकीपन दूर हो गया। उन्हें अब चौक, कैफ़े ही नहीं सारा शहर ही अपनेपन के रंग में रंगा हुआ सा लगने लगा। परन्तु अब उन्हें यह बार-बार 'दाज्यू' कहलाना अच्छा नहीं लगता और यह मदन था कि दूसरी टेबल से भी 'दाज्यू'....।

'मदन ! इधर आओ'

'आया दाज्यू !'

'दाज्यू' शब्द की आवृति पर जगदीश बाबू के मध्यमवर्गीय संस्कार जाग उठे—अपनत्व की पतली डोरी 'अहं' की तेज़ धार के आगे न टिक सकी।

'दाज्यू, चाय लाऊँ ?'

'चाय नहीं, लेकिन यह दाज्यू—दाज्यू क्या चिल्लाते रहते हो दिन रात। किसी की 'प्रेस्टिज' का ख्याल भी नहीं है तुम्हें ?'

जगदीश बाबू का मुँह क्रोध के कारण तमतमा गया शब्दों पर अधिकार नहीं रह सका। मदन 'प्रेस्टिज' का अर्थ समझ सकेगा या नहीं यह भी उन्हें ध्यान नहीं रहा।

काश ! कोई मदन को 'प्रेस्टिज' का अर्थ समझा देता।

प्रेस्टिज माने नपुंसक दम्भ, प्रेस्टिज माने सफेद कालर और मेहनतकश हाथों की दूरी, प्रेस्टिज माने कायरता....पर मदन बिना समझाये ही सब कुछ समझ गया था। जिसने इस कच्ची उम्र में ही दुनियाँ को समझने की हिम्मत कर ली हो, वह क्या एक क्षुद्र शब्द का अर्थ भी नहीं समझ सकेगा ?

मदन को जगदीश बाबू के व्यवहार से गहरी चोट लगी। मैनेजर से सिरदर्द का बहाना कर वह घुटनों में सर दे कोठरी में सिसकियां भर-भर रोता रहा। घर-गाँव से दूर, ऐसी परिस्थिति में मदन का जगदीश बाबू के प्रति आत्मीयता-प्रदर्शन स्वाभाविक ही था। इसी कारण आज प्रवासी जीवन में पहली बार उसे लगा जैसे किसी ने उसे ईजा की गोदी से, बाबा की बाँहों से, और दीदी के आँचल की छाया से बलपूर्वक खींच लिया हो।

परन्तु भावुकता स्थायी नहीं होती। रो लेने पर, अन्तर की घुमड़ती वेदना को आंखों की राह बाहर निकाल लेने पर मनुष्य जो भी निश्चय करता है वे भावुक क्षणों की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हैं।

मदन पूर्ववत काम करने लगा।

दूसरे दिन कैफे जाते हुए अचानक ही जगदीश बाबू की भेंट बचपन के सहपाठी हेमन्त से हो गयी। कैफे में पहुँच कर जगदीश बाबू ने इशारे से मदन को बुलाया परन्तु उन्हें लगा जैसे वह उनसे दूर-दूर

रहने का प्रयत्न कर रहा हो। दूसरी बार बुलाने पर ही मदन आया। आज उस के मुँह पर वह मुसकान न थी और न ही उस ने 'क्या लाऊं दाज्यू' कहा। स्वयं जगदीश बाबू को ही कहना पड़ा, 'दो चाय, दो ऑमलेट' परन्तु तब भी 'लाया दाज्यू' कहने की अपेक्षा 'लाया शा'ब' कह कर वह चल दिया। मानो दोनों अपरिचित हों।

'शायद पहाड़िया है?' हेमन्त ने अनुमान लगा कर पूछा।

'हाँ' रूखा सा उत्तर दे दिया जगदीश बाबू ने और वार्तालाप का विषय ही बदल दिया।

मदन चाय ले आया था।

'क्या नाम है तुम्हारा लड़के?' हेमन्त ने अहसान चढ़ाने की गरज से पूछा।

कुछ क्षणों के लिए टेबुल पर गम्भीर मौन छा गया। जगदीश बाबू की आँखें चाय की प्याली पर ही झुकी रह गयीं। मदन की आँखों के सामने विगत स्मृतियाँ घूमने लगीं....जगदीश बाबू का एक दिन ऐसे ही नाम पूछना....फिर....दाज्यू आपने तो कल थोड़ा ही खाया.... और एक दिन 'किसी की प्रेस्टिज का खयाल नहीं रहता तुम्हें....'

जगदीश बाबू ने आँखें उठाकर मदन की ओर देखा, उन्हें लगा जैसे अभी वह ज्वालामुखी सा फूट पड़ेगा।

हेमन्त ने आग्रह के स्वर में दुहराया, 'क्या नाम है तुम्हारा?'

'बॉय' कहते हैं शा'ब मुझे' संक्षिप्त सा उत्तर देकर वह मुड़ गया। आवेश में उसका चेहरा लाल होकर और भी अधिक सुन्दर हो गया था।

'बड़ा बेवकूफ है, अपना नाम भी भूल गया' हेमन्त ने चाय की चुस्की लेते हुए कहा।

पर जगदीश बाबू, जिन्हें अभी मदन ने 'शा'ब' कहा था इस व्यंग को समझते हैं। उन्हें लगा कि इन शब्दों की तह में जैसे मदन कह रहा हो 'मै बॉय हूँ! बॉय हूँ!! तुम्हारी प्रेस्टिज के, तुम्हारे नपुंसक दम्भ के घेरे के बाहर, एकदम बाहर!'

*
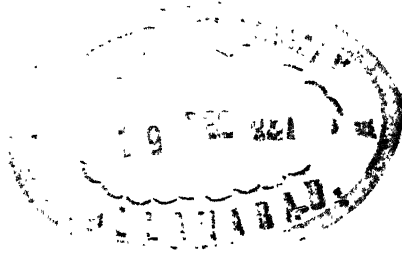
गाड़ी धीरे-धीरे चाल पकड़ने लगी है। कम्पार्टमेंट के दरवाजे पर खड़ा होकर मैं प्लेटफार्म की ओर देखता हूँ, दर्जनों लाल-हरी बत्तियाँ, फ्लोरेसेन्ट लाइट, दूध-चाय बेचनेवालों के चमकीले बर्तन, अपने सगे-सम्बन्धियों को विदा देने के लिए आये हुए लोगों के हिलते हुए रूमाल....सब-कुछ पीछे छूटता चला जा रहा है। रोशनी, यात्रियों और खोमचेवालों की भीड़ के बीच मेरी दृष्टि उस आकृति को फिर-फिर देख लेने का लोभ नहीं छोड़ पाती। लम्बे, काले बरानकोट में अपना भारी-भरकम शरीर ढाँके, भीड़ में से सहज गति से अपना रास्ता बनाते हुए उस्ताद चले जा रहे हैं।

*

बहुत दिन हो गये। उस दिन उस्ताद को पहली बार देखा था। पेट्रोल के खाली टिन को जमीन पर रख कर उस पर वह बैठे हुए थे।

संकोच, आश्चर्य, उत्सुकता और घबराहट से भरा मन लेकर जब मैंने अपने आने का कारण उन्हें बताया, तो अपना परिचय उन्होंने दिया—'रजिस्टर का नाम भी है मेरा—खुशालचन्द। चाहो तो मुझे उसी नाम से पुकार सकते हो। लेकिन अगर मुझसे ही काम सीखना है, तो उस्ताद कहना होगा।'

उस दिन कारखाने के रस्म-रिवाजों का ज्ञान नहीं था। बड़ी अजीब सी लगीं उनकी बातें। परन्तु फिर भी जाने क्यों सहमकर मैंने अपनी स्वीकृति दे दी, 'ठीक है, उस्तादजी!'

'उस्तादजी नहीं, उस्ताद, सिरिफ उस्ताद!' कुछ ऊँचे स्वर में उन्होंने मेरी गलती को सुधारते हुए कहा। पास ही मसखरा बैजू खड़ा था, मुँह फेरकर उसने कारीगरों से मेरी नकल करते हुए कहा, 'उस्तादजी' और फिर इफ्फी कर हँस दिया। कुछ कारीगर भी सहमे-सहमे-से मुस्कराने लगे थे।

माँ-बाप का दिया हुआ लाड़-प्यार का नाम और होता है, मित्र-परिचित किन्हीं अन्य नामों से पुकारते हैं। कभी-कभी रजिस्टर के नाम का महत्व केवल रजिस्टर तक ही सीमित रह जाता है। उन्हें कारखाने के सभी कारीगर उस्ताद ही कहा करते थे। हाँ, उनका एक नाम और भी था, जिन्हें उस्ताद कहने में हेठी का अनुभव होता, वे उन्हें मिस्त्री कहते थे। मिस्त्री कहनेवालों में कारखाने के मालिक और अफ़सर ही थे।

मैं उस कारखाने में काम सीखने के लिए आया था। पढ़-लिख कर भी नौकरी नहीं मिली, तो पिताजी ने रायसाहब से कह-सुन कर उनके कारखाने में लगवा दिया। कुछ पढ़ा-लिखा होने का अहसास और कुछ इस तरह के वातावरण से परिचित न होने के कारण उस दिन उस्ताद की बातें अच्छी नहीं लगीं थीं। कालिख, तेल और पसीने से

लिपी पुती डांगरी में लिपटे हुए उनके स्थूल शरीर से निकलती हुई उस अजीब-सी गन्ध के कारण जी मिचला उठा था। पहले दिन ही उस्ताद ने अपना महत्व जता दिया था, 'तीस साल हो गये हैं यही मोटरों का काम करते-करते। डाक्टर के पास सौ मरीज जाते हैं, तो बीस ठीक नहीं भी होते लेकिन कसम है इन औजारों की, जो आज तक एक गाड़ी भी मेरे हाथ से खराब निकली हो ! पूछ लो उससे !'

उस्ताद के मैले चेहरे पर अजीब-सी चमक आ गयी थी। अपने कथन की प्रामाणिकता के विषय में जाने किससे पूछने को कहा था उन्होंने। वहाँ सभी अपने-अपने काम में व्यस्त थे।

वह बिना रुके कहते चले गये, 'बड़े साहब एक बार एक नयी गाड़ी लाये थे, बिल्कुल नयी किस्म की। रामलाल मिस्त्री को साहब बहुत मानते थे, लेकिन उस गाड़ी को देखकर उसकी भी नानी मर गयी, और तब किसने ठीक की थी वह गाड़ी, जानते हो ?'

'आपने, उस्ताद ?'

'और कौन करेगा ? बस उसी दिन से साहब ने इस सिकसन का काम मुझे सौंप दिया। बड़े-साहब हुनर की कदर करते थे' अन्तिम शब्द कहते-कहते उनके स्वर में असन्तोष झलक आया।'

'मेरा उस्ताद कहता था कि आदमी ने ही मशीन बनायी है, तो आदमी के हाथ से वह कैसे ठीक न होगी ! उसी उस्ताद की बदौलत आज हम भी कुछ हैं। उस्ताद का नाम कभी बदनाम नहीं करना चाहिए। माँ-बाप तो लड़कपन तक ही रोटी-पानी देते हैं, पर उस्ताद का दिया हुआ हुनर मरने तक रोटी-पानी देता है।'

'ठीक कहते हैं, उस्ताद' मैंने कहा। पर वास्तव में मेरा मन उनकी बातों में नहीं लग रहा था।

परन्तु वह उसी उत्साह से मुझे बहुत-कुछ सीख देते रहे, 'जिसने

एक बार उस्ताद मान लिया, उसे पूरा काम सिखाना पड़ता है, वरना अपना ही नाम बदनाम होता है। पर सीखना होगा दिल लगाकर। कोई ऐब तो नहीं करते ?'

प्रश्न को सुनकर चौंक पड़ा। एकदम झूठ बोल देने का साहस नहीं हुआ। बोला, 'कभी-कभी पान-सिगरेट दोस्तों के साथ....'

बीच ही में बात काटकर, उस्ताद ठहाका मारकर हँस दिये, 'ले, मेरे यार, पान-सिगरेट भी कोई ऐब है ? पान-सिगरेट का शौक तो लौंडियाँ भी कर लेती हैं ! कुछ और तो नहीं करते ? आजकल के स्कूलिया छोकरे रंगीन तबीअत के होते हैं।'

वह क्या कहना चाहते थे, मैं नहीं समझा, ऐसी बात न थी। दूध के दाँत कब के टूट चुके थे। मैंने भी खुलकर ठहाका लगाया, 'नहीं, उस्तादजी, ऐसी बात नहीं है।'

'उस्तादजी नहीं कहते, उस्ताद कहते हैं, समझे ?'

बात समझा। पहली बार उस्तादजी कहने पर उन्होंने क्यों ऊँचे स्वर में प्रतिवाद किया था, बैजू ने क्यों मेरी नकल की थी, उस विचित्र इफ्फी का अर्थ, सब समझ में आ गया।

*

जिन कारीगरों के काम पर उस्ताद को पूरा भरोसा था, उनमें बलबीर, तेजी, कुन्दन तथा कुछ और लोग भी थे। उस दिन कुन्दन को बुलाकर उस्ताद ने पूछा, 'कहाँ काम कर रहे हो ?'

'वही सिनेमावालों की सिवेरलेट पर'

'जिसमें नाकिङ्ग है ?'

'जी, हाँ'

'बाबू को भी ले जाओ अपने साथ, जरा समझा देना सब चीजें। नये आदमी हैं।' उस्ताद ने मुझे कुन्दन के साथ जाने का इशारा

किया, परन्तु फिर टोक कर कहने लगे, 'यहाँ, बाबूसाहबी ठाट नहीं चलेगा। कुछ डाँगरी-वाँगरी नहीं लाये अपने साथ ?'

मुझे पहले इस बात का बिल्कुल ही ध्यान नहीं था। तब अपने साफ कपड़ों के खराब हो जाने का ज्ञान हुआ। लज्जित स्वर में मैंने कहा, 'कल से ले आऊँगा, आज पता नहीं था।'

'हूँ!' उस्ताद कुछ सोचने लगे। फिर उन्होंने कुन्दन से कहा, 'देखो! फकीरा आज नहीं आया है, उसका कफ़न लटका होगा कहीं, बाबू को दे दो, पहन लेगा।'

कुन्दन कहीं से खोजकर फकीरा का 'कफ़न' ले आया। उस्ताद की डाँगरी से भी ज्यादा मैली, चीकट थी वह डाँगरी। कुन्दन ने जब डाँगरी मेरी ओर बढ़ायी, तो उसे हाथों में लेना ही पड़ा। योंही एक बार उसे पूरी तरह खोलकर मैंने कह दिया, 'उस्ताद! मेरे लिए यह बहुत छोटी रहेगी, रहने दीजिए, इन्हीं कपड़ों से आज काम चला लूँगा।'

कुन्दन और उस्ताद दोनों ही मुस्करा दिये। उस्ताद ने व्यंग किया, 'फकीरा तो ससुरा बौना ही रह गया!'

पर अगले दिन फकीरा को देखा, वह मुझसे चार अंगुल ऊँचा ही रहा होगा।

उस दिन मैं फिर कुन्दन के साथ नहीं जा पाया। उस्ताद ने अपने ही पास बैठा लिया। मेरे लाख मना करने पर भी मेरे लिए सिगरेट मँगाया गया, 'आज के दिन तो तुम हमारे मेहमान हो, बाबू। कल से जैसे सब हैं, वैसे तुम भी काम करोगे।' उन्होंने कहा था।

सचमुच ही अगले दिन से मुझे भी दूसरे सभी कारीगरों की तरह काम करना पड़ा। उस्ताद से बहुत कम बातें हो पाती थीं। पहले दिन की सी सब कुछ कह डालने की उनकी आदत नहीं थी। वह तो पहले दिन उन्होंने शायद मेरा अज्ञानता भाँप ली थी, इस कारण सब-कुछ बताना

आवश्यक समझा था। कारखाने के किसी हिस्से में किसी जरूरी मरम्मत वाली गाड़ी के नज़दीक उस्ताद बैठे हुए होते। कारीगरों को आदेश देना, स्वयं निरीक्षण करना और फिर किसी कारीगर के काम से सन्तुष्ट न होकर स्वयं औजार लेकर गाड़ी पर काम करने लगना उनकी आदत बन गयी थी।

नये आदमी को सबकी धौंस सहनी पड़ती है, सभी का काम करना पड़ता है।

'देखना, बाबू, उस गाड़ी के गियरबाक्स में तेल है या नहीं? न हो तो थोड़ी तकलीफ आप ही कर दो।'

'ऐ म्याँ! जरा हमारा इंजन उतरवा दो, यार!'

'वॉल ग्रैण्ड करने थे, मदद माँगें, तो किससे? ले देकर एक बाबू का हाथ खाली है, पर इनसे कहें तो कैसे? कहीं बुरा न मान जाँय, भाई!'

परन्तु पूरी तरह परिचय हो जाने पर अनुनय नहीं की जाती, सीधी तरह आदेश दिया जाता या फिर फिकरे कसे जाते।

'बाबू! उस गाड़ी के पिछले चक्के में हवा भर दो!'

'सम्प लीक कर रहा हैं, खोलकर नया पैकिङ्ग लगा दो'

'बाबू को तो, भई, फकीरा की गाड़ी से ही इश्क हो गया है। हमें भी सलेन्सर बँधवाना था, किससे कहें!'

इसकी मदद कर, उसका हाथ बँटा, कहीं कोई पुर्जा खोल, कोई बाँध....धीरे-धीरे कुछ महीनों में थोड़ा-बहुत काम सीख पाया। थोड़े समय में अर्जित अपने अल्प ज्ञान को ही पर्याप्त समझकर एक दिन फकीरा के साथ काम करते मैं अपने आपको सर्वज्ञ घोषित कर बैठा।

मेरी बात सुनकर फकीरा इतने जोर से ठहाका मारकर हँस पड़ा कि मैं स्वयं झुँझला उठा। अपनी आदत के अनुसार फकीरा ने मेरी

बात का खूब प्रचार किया और उस दिन दोपहर के भोजन के बाद फिर मेरे कथन पर आलोचना होने लगी।

मैसी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में कहा, 'बाघ और बिल्ली की कहानी सुनी है, बाबू? बिल्ली ने बाघ को अपनी विद्या के सारे गुर सिखा दिये, लेकिन एक गुर उसने अपने पास रखा। घमंड में आकर एक दिन बाघ बिल्ली पर झपटा, तो वही गुर बिल्ली के काम आया और वह पेड़ पर चढ़ गयी। बाघ देखता रह गया।'

यह तो समझ गया कि संकेत उस्ताद की ओर है, लेकिन यह न समझ पाया कि यह गुर कौन-सा है, जो उस्ताद मुझे नहीं बताते।

'कभी वालटैमिङ्ग बाँधा है?' फकीरा ने बात स्पष्ट कर दी।

'नहीं' मुझे स्वीकार करना पड़ा।

'कभी देखा भी नहीं बाँधते हुए?' यह गिरधर की आवाज़ थी। सुनकर ऐसा लगा कि कहीं इन शब्दों में व्यंग छुपा हुआ है।

'नहीं' लज्जित-सा होकर फिर स्वीकार करना पड़ा।

'कोई देखने दे, तब तो! बाल टैमिङ्ग बाँधते वक्त ही तो बाबू को चाय पीने या किसी गाड़ी का रेडेटर साफ करने जाना पड़ता है।' गिरधर ने ही फिर कहा और सभी कारीगर मुझे सहानुभूति का पात्र समझकर एक-एक, दो-दो शब्द अपनी ओर के जोड़ते रहे।

तब समझा कि यह उस्ताद की चाल ही थी कि जब भी कोई इंजन ओवरहाल होकर बाँधा जाता, तो एक विशेष समय वह स्नेहपूर्ण शब्दों में कोई काम बताकर मुझे अड्डे पर से उठने को विवश कर देते थे।

'बाबू! अभी तक चाय नहीं पी? जाओ पी आओ, खाना-पीना वक्त पर होना चाहिए।'

'अच्छा, यह काम तो होता रहेगा, जरा उस गाड़ी का रेडेटर डिरेन करके फिर भर दो।'

'आज बैजू अकेला लगा हुआ है, जरा उसका हाथ बँटा दो।'

उस्ताद की इस चाल को याद कर और स्वयं अपनी अज्ञानता पर लज्जित होने के कारण मैं उदास हो गया। मैसी को इस बात का गर्व था कि उसने एक पढ़े-लिखे बाबू की गलतफ़हमी दूर कर उसके अहं को ठेस पहुँचायी है।

हम लोग फिर गाड़ी पर काम करने लगे। मैसी गाड़ी के नीचे लेटे-लेटे क्लच एडजस्ट कर रहा था और मैं सीट पर बैठा उसके आदेश के अनुसार कभी पैडल दबाता, कभी छोड़ देता। शायद थोड़ा सुस्ताने के लिए उसने काम रोक दिया और वहीं से बोला, 'बाबू!'

न चाहते हुए भी मुझे बताना पड़ा कि मैं उसकी बात सुन रहा हूँ।

'जानते हो, वालटैमिङ्ग के ठीक न होने से इंजन का चलना कितना मुश्किल होता है?' उसने पूछा।

जी में आया, जोर से कहूँ, नहीं जानता! कुछ भी नहीं जानता! पर फिर मैंने संयत स्वर में अपनी अज्ञानता जाहिर कर दी।

'इस वक्त क्या बजा होगा, बाबू?'

उसने प्रश्न किया, तो मुझे इस अप्रासंगिक प्रश्न को सुनकर कम हैरानी नहीं हुई। फिर भी मैंने उत्तर दे दिया, 'एक बजने को है।'

परन्तु मेरा अनुमान गलत निकला। मैसी का प्रश्न अप्रासंगिक नहीं था। नर्सरी क्लास की किसी मास्टरनी की तरह वह मुझे समझाने लगा, 'यह समझो, आपको एक बजे एक रोटी की भूख है, लेकिन एक बजे रोटी नहीं मिलती। दो घंटे बाद तीन रोटियाँ आपको मिलती हैं। तब हो सकता है कि आप एक भी न खायें या कुछ खालें कुछ बरबाद कर दें। लेकिन एक बात तो जरूर है कि हर हालत में आपका हाजमा बिगड़ जायगा।'

'हूँ' सीट पर बैठे-बैठे अनमना-सा होकर मैंने हामी भर दी।

'यही हाल इंजन का है' वह बोला, 'जिस वक्त किसी सिलेण्डर का इन खुलता है, उस वक्त ठीक मेकदार में गैस पहुँच जाय, तो इंजिन ठीक चलेगा, वर्ना कुछ गैस जलेगी, कुछ बाहर आ जायगी, इंजन का हाजमा बिगड़ जायगा। इंजन भी तो आदमी की तरह ही मशीन है, बाबू! वालटैमिङ्ग का मतलब ही यह है कि ठीक वक्त पै इंजन को ठीक खुराक मिले। समझे?'

'समझा, मैसी साहब' मैंने कहा।

उसी समय कुन्दन रेंच लेने आ गया। मैसी की बात खत्म होने पर वह अपना दर्शन बघारने लगा, 'हमारे हिन्दुस्तानी भाइयों की तो यह पुरानी आदत है कि मर जायेंगे, पर अपनी विद्या दूसरे को नहीं बतायेंगे। हमारे वेद-सास्तर में हवाई जहाज बनाने तक की बातें लिखी हैं, पर पण्डित लोग पढ़-पढ़के मर गये, किसी को बताया नहीं! अंग्रेजों ने वही चीजें पढ़ीं। स्कूल खोल दिये। उनके यहाँ घर घर में इंजीनियर हैं।'

'और सुनो' मैसी बोला। वह गाड़ी के नीचे से बिल्ली की तरह निकलकर ऊपर चला आया, 'हमारे पड़ोस में एक काज़ी साहब रहते थे। मुहल्ले में किसी को बुखार हो, खाँसी हो, पेट में दर्द हो, जिन्न-भूत लग जाय, तो वह एक जड़ी देते थे, उसी से सब-कुछ ठीक हो जाता था। पर ऐसे काइयाँ निकले कि जब मरने लगे, तो उनके बेटे ने पूछा, अब्बाजान उस जड़ी की क्या पहचान है? तो बोले, बेटा, रमजान मियाँ को पचास रुपये उधार दे रखे हैं, ले लेना। और फिर लटक गये।'

मैसी ने अन्तिम शब्द कहते-कहते काज़ीजी के लटकने का ऐसा अभिनय किया कि उसे देखकर मैं अपनी हँसी न रोक पाया। कुन्दन भी बड़ी देर तक हँसता रहा। अन्त में कुन्दन ने फिर बड़ी गम्भीरता

से अपना मत प्रकट किया, 'हिन्दुस्तानी ऐसे काइयाँ न होते, तो दो सौ साल गुलाम क्यों रहते ?'

यह स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं कि मैं कुन्दन की बातों से प्रभावित हो चुका था। प्रशंसापूर्ण मुस्कान के साथ सिर हिलाकर मैंने उसकी बात का समर्थन किया। कुन्दन कारखाने के अच्छे कारीगरों में गिना जाता था। इसी कारण मैंने पूछा, 'कुन्दन भई, यह वालटैमिङ्ग बाँधा कैसे जाता है ?'

कुन्दन को सहसा जैसे कुछ याद आ गया हो, हड़बड़ाकर बोला, 'अरे यार ! मैं तो इंजन चालू ही छोड़ आया था, बेकार ही पेट्रोल जल रहा होगा।' और मेरी ओर देखे बिना ही वह चल दिया।

मैसी फिर गाड़ी के नीचे लेट गया था। मैंने वालटैमिंग बाँधने के विषय में उससे भी वही प्रश्न किया, तो मेरे प्रश्न का उत्तर देने की अपेक्षा उसने मुझे ही आदेश दे दिया, 'पैडल धीमे-धीमे नीचे-ऊपर दबाओ, देखना, चाल तो ज्यादा नहीं।'

जी में तो आया कि पास पड़ी हुई हथौड़ी उठाकर वहीं से उसके सिर में दे मारूँ पर मैं चुप रहा। मन-ही-मन में बुदबुदाया, साले बातें करते हैं, हिन्दुस्तानी भाई काइयाँ होते हैं, यह होते हैं, वह होते हैं, और अपनी बार एक छोटी-सी बात बताने में सुनी अनसुनी कर रहे हैं ! फिर मन-ही-मन मैंने कुन्दन और मैसी को संयुक्त रूप से एक मोटी-सी गाली देकर अपने मन की भड़ास निकाल ली।

उस दिन काम में बिलकुल मन नहीं लगा। सोचा, आज घर जाने पर पिताजी से रुपये लेकर इस विषय की कोई पुस्तक खरीद लाऊँगा। परन्तु तब आधा महीना बीत चुका था और जो कुछ पिताजी ने बताया, उसके अनुसार मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि बनिये की दूकान से नून, तेल, राशन, ग्वाले से दूध-दही और पानवाले से पान-सिगरेट तो उधार

लाये जा सकते हैं, परन्तु मोटर मिकैनिज्म पर पुस्तक लेने के लिए अभी चौदह-पन्द्रह दिन और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

दूसरे दिन कारखाने में गया, तो देखा, तेजी के अड्डे पर किसी जीप का इंजन ओवरहाल होकर बँधने जा रहा है। उस दिन मैं उसी अड्डे पर काम करने लगा। वहीं उस्ताद भी काम में हाथ बँटा रहे थे। मैं छोटा-मोटा काम करता रहा, पर मेरी दृष्टि उनके काम पर ही लगी रही। उन्होंने क्रैंक शाफ्ट, पिस्टन, वाल और कैम शाफ्ट इत्यादि ब्लाक में फिट किये, परन्तु मैं नहीं समझ पाया कि वालटैमिंग कब बाँधा जायगा। सहसा उस्ताद ने मेरी ओर देखा और कृत्रिम स्नेहपूर्ण स्वर में बोले, 'बाबू! चाय-वाय पी चुके कि नहीं? जाओ पी आओ, एक-आधा गिलास हमारे लिए भी भिजवा देना।'

मैं समझ गया कि अब वालटैमिंग बाँधने की बारी है। उस दिन मैंने हार न मानने का निश्चय कर लिया था। इसी कारण अपने स्वर को उतनी ही कृत्रिमता से विनम्र बनाता हुआ मैं बोला, 'चाय तो सुबह ही पी ली थी, उस्ताद! छोकरे को आवाज़ देकर आपके लिए मँगवाये देता हूँ।'

उस्ताद ने शंकित दृष्टि से मेरी ओर देखा। फिर बोले, 'कल जिस गाड़ी पर काम किया था, उसके चारों पहियों को खूब अच्छी तरह टाइट कर दो।'

'पहिये तो, उस्ताद, कल ही टाइट कर दिये थे' मैंने ब्रेक लगाया।

शायद वह कुछ भाँप गये थे, मेरी ओर व्यंगपूर्ण दृष्टि डालकर उसी भाव से बोले, 'आजकल बड़ी फुर्ती से काम करने लगे हो!'

मैं चुप ही रहा, क्या उत्तर देता।

कुछ देर तक उस्ताद भी कुछ न बोले। फिर उन्हें नयी बात सूझ

गया, 'सिंग कम्पनी का इकबाल मिस्त्री हमारा फीलर ले गया है, जाओ, ले आओ जरूरत पड़ेगी।'

सिंग कम्पनी बाज़ार के दूसरे नुक्कड़ पर थी। वहाँ तक आने-जाने में कुछ भी नहीं तो दस-पन्द्रह मिनट तो लग ही जाते। मैंने बहाना बनाया, 'कुन्दन अभी अपनी गाड़ी टेस्टिंग के लिए उधर ले जायगा, उसी के साथ जाकर ले आऊँगा।'

'अच्छा, कुन्दन के साथ ही काम करो, जितनी जल्दी हो जाय उतना ही अच्छा।' उस्ताद फिर नर्मी से बोलने लगे।

'कुन्दन के साथ तो फकीरा काम कर रहा है' मैंने फिर ब्रेक लगाया।

ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। उस्ताद के माथे पर बल पड़ गये। तो भी अपने मन का भाव मुझसे छुपाते हुए बोले, 'जवान आदमी हो, सिंग कम्पनी तक पैदल ही चले जाओगे, तो क्या थक जाओगे?'

अब बहानेबाजी की गुंजाइश नहीं थी, सीधे-सीधे कहना ही पड़ा, 'मैं अभी कहीं नहीं जाऊँगा, उस्ताद!'

'क्या डाक्टर ने कहा है यहाँ बैठने को?' झल्लाकर उस्ताद बोले।

'फिर रोज-रोज टैमिंग बाँधते वक्त उठा देने के लिए आपसे भी डाक्टर ने ही कहा होगा!' आवेश में मेरे मुँह से भी निकल पड़ा।

उस्ताद कुछ बोले नहीं। क्रोध के कारण जैसे उनका सारा शरीर जला जा रहा था। उनकी मुखाकृति देखकर लगता था, जैसे वह बड़ी कठिनाई से अपने-आपको वश में किये हुए हों। तेजी की ओर मुड़कर धीमे से उन्होंने कहा, 'औजार समेट ले, बे! इस गाड़ी पर हम काम नहीं करेंगे।' और वह पेट्रोल के एक खाली टिन के ऊपर गम्भीर मुद्रा

बनाकर जा बैठे।

सेक्शन के बहुतेरे कारीगरों ने हमारी बातें सुन ली थीं, लेकिन नज़दीक आकर कुछ कहने-सुनने का साहस किसी को भी नहीं हुआ।

*

बात आगे बढ़ गयी। हमने देखा, कोई आध घंटे बाद मालिक हमारे सेक्शन में चले आ रहे थे। अपनी अज्ञानता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने बड़े भोलेपन से पूछा, 'मिस्त्री! वो कप्तान साहब की जीप शाम तक तैयार हो जायगी न? उन्हें कल शिकार पर जाना है।'

उस्ताद को यही मौका चाहिए था। पेट्रोल के टिन पर से उठते हुए बोले, 'साहेब! एक लुगाई के दस खसम होंगे, क्या गिरस्ती चलेगी?'

मालिक तो सब-कुछ जानते ही थे, फिर भी हैरानी दिखाते हुए मुस्कराकर बोले, 'क्या हुआ, मिस्त्री! आज मिस्त्रानी ने रोटी तो कम नहीं बाँधी?'

अपने शब्दों में भरपूर व्यंग भरकर उस्ताद बोले, 'साहेब! या तो इस कारखाने में गाड़ियाँ ही बनें या यहाँ स्कूल ही लगे!'

'अच्छा, अच्छा। तुम जीप को देखो, आज दे देनी है। वर्ना तुम्हारी ही बदनामी होगी। कप्तान साहब तुम्हें बहुत मानते हैं।' मालिक ने प्रशंसा की ग्रीज लगाना शुरू की। मेरी ओर एक तेज दृष्टि डालकर अपने साथ चलने का संकेत देकर वह दफ्तर के बड़े कमरे में चले गये।

मैं रायसाहब के कमरे में पहुँचा, तो मेरा गला सूख रहा था। यदि वह घटना के सम्बन्ध में कुछ पूछते भी, तो घबराहट में कुछ न बता पाता। परन्तु उनकी बातें सुनकर ऐसा लगा कि वह सब-कुछ जानते हैं। किसी कारीगर ने उन्हें पूरी बात बता दी थी। उन्होंने मुझे समझा-

बुझाकर वापस भेज दिया। सेक्शन में लौटा, तो देखा, उस्ताद उसी इंजन पर काम कर रहे थे। चार-छः कारीगर उन्हें घेरे हुए थे। शायद मेरे ही सम्बन्ध में बातें हो रही थीं। दूसरे कोने में खड़ी एक गाड़ी पर काम करने के विचार से मैं उधर चल दिया। उस्ताद का स्वर कानों में पड़ा, 'हम भी काम सीखने जाते थे, सभी जाते हैं! माँ के पेट से तो कोई काम सीखकर आता नहीं! हम तो किसी से कुछ कहते नहीं, कौड़ी का भी अपना प्रायविट काम नहीं कराते। हमारे उस्ताद थे, दे मार, दे मार हुलिया बिगाड़ देते थे! ऊपर से दिन में बीस बखत चिलम भरो, पान लाओ, घर से रोटी लाओ, प्यास लगे, तो पानी पिलाओ! रगड़ते-रगड़ते [illegible] साल हुए, तब कहीं जाकर बतलाया मोटर का मुँह किधर है और पूँछ किधर। एक आजकल के छोकरे हैं, औज़ारों के नाम तो मालूम नहीं, कल कारखाने की शकल देखी है और आज मिस्त्री बनने चले हैं जाने नौ महीनें माँ के पेट में कैसे रहते हैं!'

उस्ताद की ओर मेरी पीठ थी, परन्तु तो भी उनकी क्रुद्ध दृष्टि, कारीगरों की व्यंगमय मुस्कान और एक सम्मिलित उपेक्षा का आभास मैं वहीं खड़े-खड़े अनुभव कर रहा था। रायसाहब के उपदेश ने मेरा मुँह बन्द कर दिया था, इस कारण उठकर चला आया। सिगरेट सुलगाकर मुँह लटकाये बैठा रहा।

*

दिन बीतते रहे। उसी दिन से उस्ताद से बोल-चाल बन्द थी। जो-कुछ कहना-सुनना होता, उस्ताद से टेढ़े-तिरछे ढंग से कह-सुन लिया जाता। किसी कारण मुझसे रुष्ट हो जाने पर वह डाँट-डपट, सीख-उपदेश भी टेढ़े-तिरछे ढंग से ही देते थे। एक दिन काम कर चुकने पर सुस्ताने बैठ गया था। देखा, पास ही दो-एक कारीगरों की ओर मुँह कर उस्ताद बड़बड़ा रहे थे, 'लिखना-पढ़ना ही सब-कुछ नहीं

होता, गुनना भी कुछ होता है। लिख-पढ़कर बाम्हन अपनी पोथी को पूजते हैं, बनियाँ अपने तराजू को पूजता है....'

मैं यथास्थान बैठा रहा, कुछ न समझा। उस्ताद मेरी ओर देखकर फिर कुछ अधिक उत्तेजित स्वर में कहने लगे, 'लड़कपन में एक बार भूल से औजारों के बकस पर पैर रख दिया था। दूर से उस्ताद ने देख लिया। उनके हाथ में पेचकस था। वहीं से दे मारा। आज भी माथे पर घाव है।' अपने दहिने हाथ से उस्ताद कपाल टटोलने लगे। घाव दायीं ओर था, पर उनका हाथ बायीं ओर फिर रहा था।

तभी उनकी उत्तेजना का कारण समझ में आ गया। मैं अपने टूल-बाक्स के ऊपर बैठा हुआ था। लज्जित-सा उठ खड़ा हुआ।

*

रोडवेज के कारखाने में नौकरी मिली है। लखनऊ जाने से पहले एक बार सब से मिल लेने के लिए कल रायसाहब के कारखाने में गया था। बैजू आख़िरी बार भी चुटकी लेने से बाज़ नहीं आया। सब के सामने ही पूछने लगा, 'क्यों, बाबू, सरकारी नौकरी में वाल-टैम बाँधना न आने से भी काम चल जाता है?'

पुरानी याद ताज़ा हो आयी। लोग मुस्करा दिये। बड़ी प्यारी मुस्कान! विदा के उन क्षणों में उस मुस्कान में पहले वाला वह व्यंग नहीं था। मैंने भी निर्मल भाव से उत्तर दिया, 'नहीं बे, अब तो मैं सीख गया हूँ।'

'किताब में पढ़ा होगा?' कुन्दन ने अनुमान लगाकर पूछा।

'हाँ, अंग्रेजी की किताब में, हमारे हिन्दुस्तानी भाई तो बड़े काइयाँ होते हैं!' मैंने भी चुटकी ली।

कुन्दन ने झेंपकर आँखें झुका लीं।

पास ही मैसी के अड्डे पर एक इंजन खुला पड़ा था। मेरी परीक्षा

लेने के लिए ही जैसे बैजू ने कहा, 'बाबू ! जरा हमें भी बता दो इंजन का वालटैम कैसे बाँधते हैं ?'

मैंने ग़ौर से इंजन को देखा। किताब में पढ़कर जो बात समझ में आ गयी थी, उसे प्रत्यक्ष देखने पर न समझ पाया। मुझे असमंजस में देख लोग भाँप गये होंगे। लेकिन बात को हँसी में उड़ा देने के लिए मैंने बैजू से कहा, 'अभी दो-चार साल और चिलम भरो ! कल तो कारखाने की शकल देखी है, आज ही मिस्त्री बन जाना चाहते हो ?'

उस्ताद छुट्टी पर थे, इस कारण सभी ने खुलकर ठहाका लगाया।

गाड़ी बारह बजे छूटती है। घर में माँ की तबीअत ठीक नहीं है इस कारण घरवाले मुझे स्टेशन तक छोड़कर जल्दी ही चले गये थे। एकाकी बैठा सोच रहा था कि इस शहर में कितने अपने-पराये बने कितने मिले, कितने बिछुड़े ! तभी उस्ताद की याद हो आयी। सोचने लगा, कल उनकी छुट्टी थी, पर यदि छुट्टी न भी होती, तो क्या मैं सहज भाव से उनसे विदा ले पाता ? पर तभी जो-कुछ देखा, उसे देखकर अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका। लम्बे बरानकोट में अपने शरीर को ढाँके उस्ताद चले आ रहे थे। इतनी रात गये वह कभी बाहर नहीं निकलते थे। कारखाने में कभी किन्हीं विशेष कारणों से उस्ताद मौज में होते, तो हथेली पर तम्बाकू मलता-मलता बैजू उनके पास आ जाता। उस्ताद मुस्कराकर पूछते, 'क्या जादू-मंतर फेर रहा है हथेली में ?'

बैजू मसखरी करता, 'उस्ताद, संजीवनी बूटी है, वही जो हनुमान जी ने लछमनजी को खिलायी थी !'

'ला, थोड़ा इधर दे' उस्ताद हाथ बढ़ाते।

मैसी नज़दीक आकर पूछता 'सिगरेट दूँ, उस्ताद ?'

'नहीं, सिगरेट नहीं, तकलीफ देता है।' उस्ताद दमे की शिकायत करते।

फिर कुछ देर उसी मौज में बातें होतीं।

एक दिन बैजू बोला, 'उस्ताद, किसी दिन सनीमा चलो। मजीस्टिक में नया खेल लगा है। बहुत जोरदार। साली ऐसा नाचती है कि बस क़तल कर देती है! बस, यहाँ-यहाँ तक लहँगा....'अपनी जाँघों पर उसने हाथ रख दिया।

उस्ताद ने उसके सिर पर हल्की-सी धौल जमाकर पूछा, 'कितने बजे होता है?'

'सेकिन सो, रात को साढ़े नौ से।'

सुनकर उस्ताद ने कान पकड़ लिये, 'अब तो रात की ठंड में निकला ही नहीं जाता। दूसरे ही दिन खाट पकड़नी पड़ती है। यह साला बुढ़ापा क्या आया, सब चौपट कर दिया।'

पर उस्ताद आज आधी रात को स्टेशन पर किसे छोड़ने आये थे? मेरे डिब्बे के नज़दीक से होकर गये, तो मैंने जाने क्यों मुँह फेर लिया। वह चले गये। सभी डिब्बों में किसी को खोज लेने पर वह निराश से लौट रहे थे। मैंने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया था। लेकिन इस बार मैंने अनुभव किया कि एक भारी-भारी सा हाथ मेरे कन्धे पर रख दिया गया है। मुड़कर देखा, उस्ताद ही थे। कोई कुछ नहीं बोला। मैं उन्हें और वह मुझे देखते रहे।

उस्ताद ने फिर प्लेटफार्म की घड़ी की ओर देखा, गाड़ी छूटने में अभी पाँच मिनट शेष थे, 'अभी पाँच मिनट हैं' वह बोले। शब्दों में कहीं कोई गाँठ, कोई पेंच नहीं, सब-कुछ सहज, स्वाभाविक।

'हाँ' मैंने भी वैसे ही उत्तर दिया।

वह डिब्बे में आ बैठे। कुछ कहने से पहले उन्हें अपनी बात कह

लेने की जल्दी थी। अपना हाथ मेरे कन्धों पर रखे और आँखें जमीन पर टिकाये वह कहने लगे, 'वाल टेम बाँधना मुश्किल नहीं है। पहले नम्बर पिस्टन को ऐसी हालत में रखो कि एक तरफ घुमाने से इन खुले और दूसरी तरफ घुमाने पर आउट। फिर कैम शाफ्ट और क्रैंकशाफ्ट की गरारियों में जो निशान होते हैं, उन्हें मिला दो। सभी इंजनों में थोड़ा-बहुत फर्क करके ऐसा ही होता है।'

गाड़ी ने पहली सीटी दे दी थी। उस्ताद उतरकर प्लेटफार्म पर आगये! खिड़की पर हाथ टेककर बोले, 'समझ गये?'

अगर न—भी समझा होता, तो क्या वैसा कहकर उनके मन को कष्ट पहुँचा पाता? मैंने प्रसन्न होकर कहा, 'समझ गया, उस्ताद, बिलकुल अच्छी तरह समझ गया!'

कितना सन्तोष उभर आया था उनके चेहरे पर! मेरे कन्धों को स्नेह से थोड़ा दबाकर वह लौट पड़े। गाड़ी के चलने की प्रतीक्षा भी उन्होंने नहीं की। जाने किस भावना के आवेग में मेरी आँखें गीली हो आयीं। तभी समझ पाया कि उस्ताद गाड़ी के चलने की मिनट-भर की प्रतीक्षा भी क्यों न कर पाये होंगे।

रेल ने चाल पकड़ ली है। मैं सिगरेट सुलगा लेता हूँ। सब-कुछ पीछे छूटता चला जा रहा है। रात में कभी भी बाहर न निकलने वाले उस्ताद इस आधी रात में निर्जन सड़क पर एकाकी चले जा रहे होंगे। कितने संतुष्ट! कितने प्रसन्न! सोचता हूँ, उन्हें सिगरेट पीने के लिए भी नहीं पूछ पाया। यों वह सिगरेट नहीं पीते, पर शायद आज पी लेते, जरूर पीते! बाबू के इस आग्रह को वह चाहकर भी नहीं टाल पाते।

कविप्रिया

मौसी ने जाते-जाते आवाज दी, 'शीला, जरा रसोईघर में आ जाओ, मैं मन्दिर जा रही हूँ।'

हाथ का काम छोड़, ईंटों की कच्ची, छोटी दीवार को लाँघकर शीला मौसी की रसोई में आ बैठी। मौसी मन्दिर से शीघ्र नहीं लौटेंगी। दसों देवताओं की पूजा, दसों की मनौती और दसों को उलाहना देना होगा। गाँव-पड़ोस की बूढ़ी-बालियों से अपना दुख-दर्द कहेंगी। सच्ची या झूठी सहानुभूति पाकर कुछ जी हल्का हो जायगा, तो एक बार फिर भरी-भरी आँखों से उन देवताओं से कितना-कुछ कहकर लौटेंगी।

अन्धकार में कहीं दूर थाने की घन्टी सात बार गूँजी। शीला बुदबुदायी, सात बज गये। और उसने सुना, बाहर के कमरे में पंडितजी घड़ी में चाभी भरते हुए कह रहे हैं, 'आज फिर दस मिनट पीछे रह

गयी, अगले महीने इसे शहर भिजवाना ही पड़ेगा।'

शीला इन शब्दों से परिचित है, आज पहली बार ये शब्द नहीं बोले गये हैं। न मालूम कब, कितने दिन से, पंडितजी इन्हें दुहराते चले आ रहे हैं। शायद उन्हें भी इस बात का ज्ञान न हो कि कब पहली बार उन्होंने ये शब्द कहे थे। घड़ी चौबीस घन्टे चलकर दस मिनट पीछे रह जाती है। शहर भिजवाकर ठीक हो सकती है, परन्तु इतने दिन से उसे कभी शहर नहीं भिजवाया जा सका।

इन शब्दों की आवृत्ति के, घड़ी के अनियमित चलने के और मन्दिर में चिरौरी-मिनौती के मूल में क्या है, यह शीला जानती है।

बाहर घना अन्धकार, सुनसान और गहरी उदासी है। यही सब-कुछ अन्दर भी। बाहर के कमरे से आता हुआ पण्डितजी का स्वर भी इस सूनेपन की खाई को न भर सकेगा। कभी जब मन भारी-भारी सा हो जाता है, तो अनजाने ही कुछ शब्द मुँह से निकल पड़ते हैं। वैसे ही पंडितजी भी कभी-कभी कुछ बोल देते हैं। किसी को सुनाने के के लिए नहीं, वरन् मात्र कहने के लिए कहे गये उनके शब्द किसी से समर्थन या सहानुभूति की आशा नहीं रखते।

शीला जानती है, अभी यह स्वर भी बन्द हो जायगा। मन की सारी व्यथाओं, चिन्ताओं को भुला देने के लिए पण्डितजी किसी धार्मिक पुस्तक में आँखें गड़ाकर चुपचाप एक-के-बाद-एक पन्ने पलटते रहेंगे और यह क्रम तब तक बन्द न होगा, जब तक मौसी मन्दिर से लौट न आयें और एक-आध घण्टे पश्चात् रसोई-घर से थाली की खनखनाहट द्वारा भोजन तैयार हो जाने का संकेत न दे दें....

शीला इस सूनेपन की अभ्यस्त है, फिर भी जब कमरे की सीमा में फैली उदासी उसे घेर लेती है, तो वह मन का आवेग नहीं रोक पाती। न जाने क्यों, बार-बार आँचल का स्पर्श पाकर भी आँखें भर-भर

आती हैं। इस असह्य एकाकीपन की सीमा से उसी क्षण भाग जाने को मन होता है, पर शीला भाग नहीं पाती। रोज ही मन्दिर जाती हुई मौसी का स्वर शीला को फिर वहीं खींच लाता है और शीला खिंची चली आती है। किसी अदृश्य, अस्पष्ट भावना से प्रेरित होकर।

गाँव-पड़ोस में और भी तो बाली-बेटियाँ हैं, फिर क्यों मौसी ने यह भार शीला पर ही डाल रखा है? कोई रिश्ता-नाता भी नहीं, फिर क्यों हर साँझ अधिकारपूर्ण स्वर में मौसी उसे ही यह आदेश दे जाती हैं? नहीं! नहीं! शीला उस भावना से परिचित है, वह जानती है कि मौसी उसे साधारण की सीमा से निकालकर कितना निकट ले आयी हैं, और इस सामीप्य का अनुभव कर शीला गद्गद् हो जाती है। कभी-कभी जब भावना के आवेग में मौसी शीला को निकट खींचकर कहीं दूर भविष्य की ओर देखती हुई अपना स्नेहपूर्ण हाथ उसके सिर पर फेरती हैं, तो शीला को लगता है, जैसे मौसी उसकी प्रत्येक भावना से परिचित हैं। मौसी के वक्ष में अपना सिर रखकर वह जो स्पन्दन सुनती है, उसकी तह में जो स्वप्न हैं, उनका अर्थ उसे स्पष्ट ही सुनायी देता है, पर स्वप्न तो स्वप्न ही हैं, बच्चों के हों या बूढ़ों के....

चूल्हे की लकड़ियाँ चटाख-चटाख कर जलती रहीं। पतीली से उफनकर कोई चीज बाहर आयी। जलती लकड़ियाँ गीले झाग का स्पर्श पाकर सूँ-सूँ कर कुछ मध्यम पड़ीं, तो शीला का ध्यान टूटा। पतीली का ढक्कन हटा, आग को दुबारा सुलगाकर उसके कान फिर बाहर की ओर लग गये।

बाहर के कमरे से आता हुआ स्वर अब बन्द हो गया है। शायद लैम्प के प्रकाश में निकट रखी हुई पुस्तक के परिचित शब्दों के राजमार्ग से होकर पंडितजी की व्यथा और चिन्ताओं का काफ़िला कुछ ही समय के लिए उनसे दूर, दूरतर होता जा रहा है। शीला इस

भयानक मौन को तोड़ना चाहती है, पर न जाने क्यों कण्ठ भी साथ नहीं देता। बार-बार वह सोचती है कि काश, कोई गाँव-पड़ोस का आदमी ही बाहर के कमरे में आ जाता या पंडितजी ही कुछ ऊँचे स्वर में पढ़ने लगते।

तभी शीला ने चौंककर सुना, कहीं निकट ही जूतों की खटखट हुई और धीरे-धीरे आवाज़ निकटतर आती गयी। बाहर के कमरे से पंडितजी का स्वर सुनायी दिया, 'आओ, हरी, बैठो।'

शीला ने संतोष की साँस ली।

हरी कल शहर गया था आज लौटा है।

गाँव-कस्बे का कोई आदमी जब शहर से लौटता है, तो, न जाने, कितने ताजा और बासी समाचार लेकर। तीन-चार दिन तक उन्हीं समाचारों पर टीका-टिप्पणी होती रहती है। पर बाहर का कमरा गाँव-कस्बे के अन्य कमरों से भिन्न है। वहाँ फिर वही चुप्पी फैल गयी है। पंडितजी को आटे-दाल के बाज़ार-भाव में या किसी मुकद्मे की हार-जीत में कोई रुचि नहीं है। हरी सुनाना भी चाहे तो भी पंडितजी उधर ध्यान नहीं देंगे। पर हरी सुनायेगा ही क्यों? वह पण्डितजी की रुचि से परिचित है।

फिर हरी शहर से सीधा इधर ही क्यों आया? वह अपने घर या रघू काका की बैठक की तरफ क्यों नहीं गया, जहाँ किसी भी ताजे या बासी समाचार का हृदय से स्वागत होता है?

हरी और पण्डितजी दोनों चुप हैं, मानो इस प्रतीक्षा में हों कि पहले कौन मौन भंग करे।

शीला भी कुछ पूछना चाहती है, पर क्या वह पूछ सकेगी? आचार और नियम-शृंखलाओं की जो ऊँची दीवार बनी है, उसे लाँघ सकेगी? वह पण्डितजी के इस दीर्घ मौन से खीझ उठी है, संयम की सीमा

लाँघकर। 'डितजी को झकझोरकर वह पूछना चाहती है, तुम्हारा पितृहृदय कहाँ गया ? पूछते क्यों नहीं कि गिरीश कैसा है, कहाँ है ? पर वह कुछ पूछ नहीं पाती। संयम, आचार-विचार और नियमों की ऊँची दीवार को लाँघ नहीं पाती।

हरी ने ही मौन तोड़ा, 'गिरीश भैया मिले थे।'

शीला के हृदय की धड़कन बढ़ गयी। रसोई-घर और बाहर के कमरे के बीच जो दीवार का व्यवधान है, उसी के एक छिद्र से उसने आँखों को भी इस वार्ता का साक्षी बनाना चाहा।

पण्डितजी के मुख पर अब भी वही गम्भीरता है। किताब से घड़ी भर को ध्यान हटाकर उन्होंने हरी की ओर देखा। मौन रहकर ही जैसे बोलने के लिए प्रोत्साहन दे रहे हों। हरी को प्रत्युत्तर की आशा थी, पर पण्डितजी को मौन देखकर बात पूरी करने के लिए ही जैसे कह रहा है, 'अभी उन्हें काम-काज तो कुछ मिला नहीं।'

'काम-काज मिला नहीं, तो रोटी-पानी का क्या होता है ?' पण्डितजी ने पूछा, स्वर में खीझ अधिक है।

हरी पण्डितजी के प्रश्न करने के ढंग से कुछ सहमा-सा कह रहा है, 'लिख-लिखाकर थोड़ा-बहुत काम चला लेते हैं।'

पण्डितजी का मुँह कठोर हो चला है। धीमे-धीमे जैसे अपने-आप से ही बातें कर रहे हों, 'ऐसी नौबत तो अभी नहीं आयी थी कि लोगों की चिट्ठी-पत्री लिखकर पेट भरना पड़े।'

शीला ने अनुभव किया, हरी कुछ कहने के लिए उतावला हो रहा है। क्या यही-कुछ कहने के लिए वह घर न जाकर यहाँ रुक गया है ?

'चिट्ठियाँ नहीं, गीत-वीत लिखकर।'

शीला ने देखा, पण्डितजी की भ्रान्ति दूर करने के लिए वह एक

छोटी पुस्तक उनकी ओर बढ़ा रहा है।

हर्ष से शीला की आँखें भर आयीं। लेकिन पण्डितजी की कठोर मुख-मुद्रा अब भी वैसी ही बनी रही। पुस्तक की ओर एक उपेक्षापूर्ण दृष्टि डालकर वैसी ही उपेक्षा के भाव से उनके मुँह से केवल एक शब्द निकला—'आवारा !'

मानो गिरीश द्वारा कवि-धर्म अपनाने के कारण ही पण्डितजी ने उसकी सामाजिक स्थिति निश्चित कर दी हो। लेकिन क्या पहले भी गिरीश के प्रति ऐसा अप्रिय सम्बोधन उनके मुँह से किसी ने सुना था? शीला सोचने लगी, एक दिन जब कालेज से बी० ए० की परीक्षा में सफलता प्राप्त कर गिरीश घर लौटा था, तो कितने गर्व से स्नेह-विह्वल पंडितजी ने ही गिरीश की पीठ ठोंकी थी। मेरा गिरी अफसर बनेगा, यह सोचकर माँ ने सभी जान-पहचानवालों के घर मिठाई भेजी थी।

फिर अफसर बननेवाले गिरीश ने क्लर्की तक के लिए दौड़-धूप की, बेकारी के दफ्तर में नाम लिखवाया, परन्तु सभी निष्फल, निष्प्रयोजन।

तभी एक दिन वह स्कूल मास्टरी के लिए बुलाया गया। सुना था, चार-पाँच और युवक भी थे। परीक्षा हुई। गिरीश दूसरे नम्बर पर था। पंडितजी ने डिप्टी साहब की मिन्नतें कीं, सिफारिशें पहुँचायीं। घर में फिर खुशियाँ मनाने की तैयारी हुई। पर दूसरे दिन गिरीश ने कह दिया, 'मैं सिफारिश के बल पर किसी और के पेट पर लात नहीं मार सकता !'

माँ ने कहा था, 'जिन्दगी भर किताब-कलम से ही उलझकर कैसे काम चलेगा? बहुत दिन पढ़-लिख लिया, कुछ घर का भी ध्यान करो।' और पंडितजी ने घर से निकल जाने की धमकी दी थी। सचमुच

दूसरे ही दिन गिरीश माँ-बाप से विदा होकर चल दिया।

माँ ने कहा था, 'सभी सिफारिश लेकर जाते हैं, तू अनोखा ही है; गिरी !'

और गिरीश ने आहत स्वर में कहा था, 'हाँ, माँ ! मैं अनोखा ही हूँ। सिफारिश क्यों ली जाती है, बेकारी क्यों होती है, यह जानता हूँ, इसी कारण अनोखा हूँ न ! लोग सिफारिश लेकर नौकरी पा लेते हैं, तो क्या मैं भी ऐसा ही करूँ ?'

तब माँ ने आतुरता से खीझकर कहा था, 'तो और क्या करेगा, बेटे ?'

'कुछ करूँगा ही, माँ ! घूस, बेकारी, भूख न हो, ऐसा ही कुछ करूँगा....'

और तब न माँ ही समझी थी; न शीला ही कि वह क्या करेगा। आज भी बाहर के कमरे में पड़ी पुस्तक को देखकर शीला सोचने लगी, क्या कालिदास ने मेघदूत लिखकर बेकारी और भूख दूर कर दी होगी ?

हरी जा चुका है।

पण्डितजी का मन भी अब न जाने क्यों, पोथी में नहीं लग पा रहा है। नदी-तट की ओर चले गये हैं।

बाहर के कमरे से पुस्तक लेकर शीला रसोईघर में आ गयी। निर्जीव पुस्तक को हाथों में लेकर भी उसे लगा कि जैसे गिरीश की सजीव देह का स्पर्श हो रहा हो।

पुस्तक खोलने से पहले शीला के मस्तिष्क में 'आवारा' की गंभीर ध्वनि गूँज गयी।

न जाने कब एक बार किसी छात्र को 'मेघदूत' पढ़ाते समय पण्डितजी को यह कहते शीला ने सुना था, कवि के पात्र तो काल्पनिक होते हैं, कवि के अन्तर की वेदना ही पात्रों के माध्यम से मुखर होती है।

'मेघदूत' का यक्ष स्वयं कालिदास ही हैं, अपनी प्रेयसी के प्रति तीव्र आसक्ति के कारण ही कालिदास अमर हो सके।

कवि........कविता........प्रेम........यक्ष....यक्षिणी....गिरीश........ आगे शीला न सोच सकी। उसका गिरीश कवि है, यह सोचकर उसे गर्व, आनन्द और रोमांच की अनुभूति होने लगी। धड़कते हृदय से उसने पुस्तक खोली। मस्तिष्क में एक विचार आया, कहीं कुछ लिख न दिया हो। और लज्जा से उसकी कनपटियाँ आरक्त हो गयीं।

शीला उत्सुकता से पृष्ठ-के-बाद पृष्ठ पलटती गयी। न जाने कब पुस्तक समाप्त हो गयी, पर उस यक्षिणी के यक्ष ने कहीं उसका उल्लेख न किया था। इस उपेक्षा के कारण आहत होकर वह: गिरीश के चित्र की ओर देखने लगी। उसका मन हुआ, एकटक देखते हुए गिरीश को झकझोर के पूछे, तुमने मुझे क्यों भुला दिया, मेरी उपेक्षा क्यों की? क्यों? क्यों?

पर निर्जीव रेखाओं से झाँकता हुआ गिरीश क्या सब-कुछ सुनकर भी उत्तर देगा?

न जाने कितनी भूली-बिसरी बातें शीला को याद आने लगीं, हाँ, माँ, मैं अनोखा ही हूँ........तब और क्या करेगा, बेटे?.......कुछ करूँगा ही, माँ। भूख, बेकारी न हो, ऐसा ही करूँगा कुछ....

शीला सोचने लगी, गिरीश के मुँह से इतनी बड़ी बात तब बिल्कुल अस्वाभाविक न लगी थी। वह उसे तब न समझ पायी थी, पर क्या उसका यह स्वाभाविक विश्वास ही उसे समझ पाने के लिए कम है?

भावावेग में शीला की आँखें भर आयीं, फिर बरस पड़ीं। आँखों पर रखा आँचल भींगता रहा, भींगता रहा। कमरे की निस्तब्धता को चीरती हुई मौसी के पैरों की आवाज़ निकटतर होती गयी। इससे पहले कि मौसी कुछ पूछतीं, शीला ने ही आँखों पर आँचल रखकर धुएँ की शिकायत कर दी। पर रसोई की आग तो कब की बुझ चुकी थी।

*

बन्द दरवाजे : खुली खिड़कियाँ

जेब में हाथ डाला तो अचानक हड़बड़ा कर फिर बाहर निकाल लिया—रिक्त पात्र में हाथ डालने पर साँप बिच्छू की आशंका होने पर जैसा होता है ठीक वैसे ही। बीड़ी का बंडल था.. खाकी वर्दी वाला सिपाही....यही नाम चलता है आफिस में।

नये पत्रकारों की बात और है....कालेज, यूनिवर्सिटी से नये-नये निकले होते हैं, चिट्ठी-पत्री, हस्ताक्षर, अथवा साइनबोर्ड में नाम के नीचे सब-एडीटर लिखना नहीं भूलते। अन्य सहकारियों को सुनाकर छोकरे को ऊँचे स्वर में कैप्स्टन लाने का आदेश देते हैं। पर धीरे-धीरे फिर सब सामान्य हो जाता है। बच्चों को दूध और पत्नी की दवा-दारू के बाद बचता ही कितना है! सस्ती सिगरेट के बाद फिर यही सिपाही। सभी का ऐसा ही अनुभव है। आफिस में निःसंकोच भाव से बीड़ी चलती है; परन्तु यहाँ, सरोज के इस ड्राइंग-रूम में बीड़ी जलाने का

साहस नहीं हुआ। चाँदी की असाधारण एशट्रे में बीड़ी का टुकड़ा! इस मानसिक तनाव की परिस्थिति में भी अपने आप पर हँसे बिना न रह सका। क्या इस कमरे में मेरी भी स्थिति ठीक वैसी ही नहीं है। सलवटों से भरा कुरता पायजामा और यह सुसज्जित ड्राइंग रूम! लगता है जैसे चाँदी की एक बहुत बड़ी ऐशट्रे में एक मैं हूँ—बीड़ी के अधजले टुकड़े-सा एक कोने में रखा हुआ।

यों ही भेंट करने के लिए चला आया था। इतना विलम्ब हो जायगा इसका अनुमान नहीं था। लगता है, सरोज प्रसाधन-सामग्री के साथ पूरा न्याय किये बिना बाहर नहीं निकलेंगी।' आया सूचित कर गई थी, 'मेम साहब बाथ-रूम जा रही हैं।' अभी बगल वाले कमरे से सरोज का स्वर सुना था—'हम तो सोच रहे थे एडीटर साहब हमें भूल ही गये हैं, मैं अभी आई' अर्थात् मुझे ही लक्ष्य कर यह बात कही गई थी; उत्तर की अपेक्षा नहीं थी इसी कारण मैं चुप रहा।

मन बहलाने के लिए ड्राइंग रूम में चारों ओर दृष्टि डालता हूँ। कहीं किसी भी चीज को देखकर ऐसा नहीं लगता कि इस पर सरोज के व्यक्तित्व की छाप न हो। बुकशेल्फ की पुस्तकों, कार्निस या तिपाई पर रखी मूर्तियों, दीवार पर लगे चित्रों से लेकर पर्दे, गलीचे और फर्नीचर की बनावट में ही नहीं, सज्जा में भी उनकी सुरुचि की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। याद है, वर्षों पहले एक बार कालेज की 'आर्ट एक्जिबीशन' के उद्‌घाटन के सिलसिले में बुलाकीदास की कोठी से लौटते समय सरोज ने हँसी-हँसी में कहा था, 'सी व्हाट ए फन! हमारे देश में यह कैसी 'ट्रेजडी' है कि 'आर्ट' के साथ ऐसे लोगों का नाम जोड़ना पड़ता है जो उससे कोसों दूर हैं; अब सेठजी हमारी 'एक्जिबीशन' का उद्‌घाटन करेंगे! और सेठजी का 'ड्राइंगरूम' देखो जैसे किसी कबाड़ी की दूकान हो! छिः मुझे तो उबकाई आने लगी थी!'

आज इस ड्राइंगरूम को देख कर सोचता हूँ, कितनी स्वाभाविक थी वह तिलमिलाहट !

खिड़की के पास टँगा हुआ लैन्डस्केप अपनी ओर ध्यान खींच लेता है—शायद सरोज की ही रचना है। अनायास ही खिड़की का पर्दा उठाकर बाहर देखता हूँ....बाईं ओर की सड़क सीधे 'सिविल लाइन्स' के बंगलों की ओर चली गई है। दाहिनीं ओर कचहरी रोड के दोनों ओर छोटे बड़े अनेकों मकान हैं। लकड़ी के तख्तों से बनाई गई शरणार्थियों की दूकान, ठेले-खोमचे वालों की अपार भीड़, नंगे अधनंगे बच्चे गोलियाँ खेलते, लड़ते-झगड़ते घूम रहे हैं। सिन्धी होटल का बड़ा रेडियो 'फुल वाल्यूम' पर चीख रहा है। अभी बच्चों का एक रेला ढेले पत्थर लेकर चीखते-चिल्लाते न जाने किसे खदेड़ रहा था। गौर से देखा, अशोभन स्थिति में कुत्तों का एक जोड़ा उनके विनोद का कारण बना हुआ है। सिंधी होटल के बाहर खड़े छः-सात अधेड़ उम्र के लोग निर्लज्जता से खिलखिलाकर बचों को फटकारने का अभिनय कर रहे हैं। खिड़की के सामनेवाली सड़क से अभी बड़े-बड़े पोस्टरों से सुसज्जित एक ताँगा किसी नयी फिल्म का विज्ञापन करता हुआ निकल गया। ताँगे के पीछे 'हैन्डबिल' के लिए छीना झपटी करते हुए छोकरों का झुण्ड सड़क के मोड़ तक दिखाई दिया था। ताँगे में बजते हुए रिकार्ड से एक सस्ते फिल्मी गाने का स्वर अब क्रमशः धीमा होता जा रहा है।

सुनता हूँ....अन्दर के कमरे से आया को आदेश देती हुई सरोज ड्राइंग रूम की ओर आ रही हैं। खिड़की से हटकर सोफ़े पर बैठता हुआ व्यर्थ ही एक पत्रिका को उलटने-पलटने लगता हूँ। पर्दा हटाकर, दसों अँगुलियों को नमस्कार की मुद्रा में जोड़ सरोज कृपणता से मुस्करा देती हैं। हल्की सफेद वायल की साड़ी, सफेद ही ब्लाउज, प्रसाधन की

सम्पूर्णता होते हुए भी सब कुछ इतना स्वाभाविक ! एक ही दृष्टि में उन्हें सिर से पैर तक देखकर मैं प्रत्युत्तर में नमस्कार करता हूँ। क्षण भर को ऐसा अनुभव होता है जैसे मेरे वस्त्रों की ओर देखकर उन्हें कुछ अच्छा न लगा हो। पर नहीं, यह मेरा भ्रम होगा। शायद उन्हें इस बात का कोई ध्यान ही नहीं। उनकी परिमार्जित रुचि को देखकर मेरे मन में जो हीनता की भावना उत्पन्न हुई थी उसी कारण शायद मुझे ऐसा अनुभव हुआ हो। 'आप तो जैसे इधर का रास्ता ही भूल गए !' शिकायत के स्वर में सरोज पूछती हैं। इन शब्दों में कितनी वास्तविकता है, इस बात की चीरफाड़ करने को मन नहीं होता, सहज रूप में इस कथन को स्वीकार कर, आश्वस्त होकर उत्तर देता हूँ—

'रास्ता देखा ही कब था ?'

क्षण के किसी लघुत्तम अंश के लिए जैसे उनके मुँह का भाव बदल जाता है। लगता है जैसे मेरी बात उचित न थी परन्तु फिर पूरे उल्लास के साथ सरोज कहती हैं, 'अरे हाँ, मैं तो भूल ही गई थी, आप तो आज पहली बार आ रहे हैं न, इस घर में !'

'तभी तो कह रहा हूँ,' मुझे संतोष है कि मेरी बात का गलत अर्थ नहीं लगाया गया।

'बड़ी परेशानी हुई होगी आज, पहले पुराने वाले मकान में जाना पड़ा होगा ?' चिन्तित होकर सरोज पूछती हैं।

'नहीं, आपलोग यहाँ 'शिफ्ट' कर गये हैं यह तो पहले ही मालूम हो गया था, न्यूज मैंने ही बनाई थी।' मैं बिना सोचे-समझे ही वास्तविकता बता देता हूँ। इस कथन के कारण सरोज दुविधा में पड़ जायेंगी इसकी पहले कल्पना भी नहीं कर सका।

'ओह टैरिबल ! शर्माजी ने न्यूज भी दे दी ? वो तो यों ही थोड़ा चाय-वाय का बवाल किया था यहाँ आने पर। इन्होंने शर्मा जी को

भी 'इनवाइट' कर लिया था। मैं बहुत 'बिज़ी' थी। आपके लिये 'रिंग' कर देने को इनसे कहा था, सच बड़ा पछतावा रहा....मैं इनके भरोसे रही और ये हैं कि भुलक्कड़ ...कुछ याद ही नहीं रखते....!' क्षमा याचना का विचित्र भाव सरोज के मुख पर तैरने लगता है।

चीफ एडीटर के साथ मेरा आना सरोज के उनको अच्छा नहीं लगा हो या कौन जाने !

'नहीं, जरूर 'रिंग' किया होगा, शायद मेरी 'ऐबसेन्स' में; मैं उन दिनों 'नाइट सिफ्ट' में था।' मैं अपने अपराध का प्रायश्चित करता हूँ।

एक विचित्र तनाव हमें घेर लेता है। पर ऐसी स्थिति में मुझे हमेशा कोई-न-कोई सहारा मिल ही जाता है। टेलीफोन की घण्टी ने रक्षा की। सरोज फोन रिसीव करने के लिये उठीं। मिनट दो-एक तक....'हलो....बधाई....बधाई....जरूर....वाह' ऐसी ही एकपक्षीय वार्ता मैंने सुनी। सरोज लौटीं तो स्वस्थ्य होकर, जैसे दो मिनट पहले जो भार उनके ऊपर आ पड़ा था उसे वहीं छोड़ आई हों।

'दत्तात्रेय साहब की नई कोठी में अभी-अभी फोन का कनेक्सन लगा है, उन्हीं की वाइफ थीं। कहती हैं, तुम्हीं से पहले पहल बातें करके ओपनिङ्ग सेरेमॉनी कर रही हूँ।' उनकी वार्ता के सम्बन्ध में मेरी अज्ञानता शायद शिष्टाचार के विरुद्ध हो; इस प्रकार सरोज मुझे सूचित करती हैं और मैं मूर्ख की भाँति हँसकर इस सूचना को ग्रहण कर लेता हूँ।

'यह मकान तो 'कम्फर्टेबिल' है न ?' मैं बातचीत का क्रम बनाए रखने का प्रयत्न करता हूँ।

'ठीक-ठीक ही है' लापरवाही से सरोज कहती हैं। फिर अचानक जैसे कुछ याद आ गया हो, 'मकान तो वह भी बुरा नहीं था; सिर्फ पड़ोस की दिक्कत थी, जाने कैसे लोग थे ! बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी

एक से एक बढ़कर ! इन बच्चों की आदतें तो ऐसी बिगड़ने लगी थीं कि कुछ पूछिये मत। यहाँ भी पड़ोस कौन ऐसा अच्छा है ! हम तो 'सिविल लाइन्स' में ट्राई कर रहे थे, कहीं मिला ही नहीं, सभी कोठियाँ भरी हुई हैं।'

'आज बेबी और मिनी नहीं दिखाई दे रहे हैं ?' मैं फिर एक बार बात का रुख पलटने का यत्न करता हूँ।

'मिनी आती ही होगी। साढ़े तीन बजे आ जाती है उसकी गाड़ी। और बेबी को तो हमने इस सैशन से मंसूरी भेज दिया है 'ओकग्रोव' में। यहाँ कोई ढंग ढर्रे का स्कूल हो तो रखें भी। डी० ए० वी० में रखा था, महीने भर में ही दर्जनों गालियाँ सीखकर आ गया। हम तो इस मिनी को भी वहीं 'सेन्ट-मेरी' में भेजने की सोच रहे थे। पर फिर सोचा घर में कोई बच्चा तो होना ही चाहिये। वैसे मिसेज जौसेफ ने बच्चों के लिये अच्छा नर्सरी स्कूल खोल रखा है, वहीं भेजते हैं। सिविललाइन्स की सभी कोठियों के बच्चे वहीं जाते हैं!'

'हाँ—ऽ-ऽ अच्छे स्कूलों की तो बड़ी जरूरत है।' मैं निरपेक्ष भाव से अपनी सम्मति प्रकट कर देता हूँ।

मेरी बात की ओर पूरा ध्यान न देकर सरोज अनमनी-सी दरवाजे की ओर देखती हैं। शायद किसी की प्रतीक्षा है। आया आकर चाय की ट्रे तिपाई पर रख देती है। अनायास ही घड़ी की ओर देखता हूँ, बड़ी सुई साढ़े तीन के बाद एक दो मिनट आगे चली गई है। शायद यही सरोज की उद्विग्नता का कारण था। सोचता हूँ, कितना नियमित जीवन है ! कहीं राई-रत्ती भी लापरवाही नहीं।

इतनी देर बाद, चाय पीते-पीते अचानक सरोज को याद आया, 'आपने सिगरेट छोड़ दिया क्या ?' जेब में सिगरेट का पैकेट टटोलने का अभिनय करते हुए ससंकोच कहता हूँ, 'नहीं, कहाँ छूट पाता है ?

शायद आफिस में ही भूल आया हूँ।'

'रुकिये, मैं देखती हूँ' कहकर सरोज ड्राअर टटोलती हैं। 'कैप्स्टन' और 'गोल्डफ्लेक' के दो टिन निकल आये हैं, 'आपकी पसन्द क्या है? उन्हें तो अब सिगरेट से तृप्ति ही नहीं होती, सिगार पर पहुँच गये हैं। यह तो मेहमानों के लिये रख छोड़ी थीं।' सरोज मेरी रुचि जानने के लिये उत्सुक हैं।

अपनी वास्तविक रुचि की बात कह देना चाहता हूँ पर जैसे कोई जुबान पकड़ लेता है। सोचता हूँ, नम्र स्वर में दोनों सिगरेटों में से किसी एक का नाम भर ले देने पर सरोज चुपचाप वही डिब्बा मेरे हाथ में दे देंगी। पर तभी न जाने कैसे किसी समृद्ध व्यक्ति का स्वर मेरे कण्ठ से फूट पड़ता है, 'गोल्डफ्लेक से ही काम चल जायगा'। सरोज के हाथ से गोल्डफ्लेक का डिब्बा ले लेने पर अपने कथन के औचित्य पर सोचता हूँ, मन ग्लानि से भर उठता है। केवल मात्र एक कश खींच कर सिगरेट मुँह से हटा देता हूँ—विचित्र कड़ुआहट तन-मन में भर गई है।

सिगरेट की बात फिर आगे नहीं बढ़ी। इस बार सड़क पर बजते मोटर के हार्न ने मुझे उबार लिया। 'शायद मिनी की स्कूल बस आ गई' सरोज खिड़की की ओर जाते जाते कहे जाती हैं। धीरे-धीरे अपने स्थान से चल कर मैं भी दूसरी खिड़की पर खड़ा हो जाता हूँ। मकान के सामने आकर बस रुक गई है। बूढ़ी नौकरानी की सहायता लेकर मिनी खट्-खट् बस की सीढ़ियों से उतर कर दौड़ती-दौड़ती लान तक आ गई है।

'मिनी!' कड़े स्वर में माँ खिड़की से आवाज देती हैं! मिनी अवाक्, स्तब्ध, ऊपर की ओर ताकती ठिठक जाती है। मैं सरोज की ओर देखता हूँ, आग्नेय नेत्रों से मिनी की ओर देखकर सरोज वहीं से

सधे स्वर में आदेश देती हैं, 'अपनी फ्रेन्ड्स को टा-टा करो।'

मिनी अपने अपराध पर लज्जित मुड़कर कोठी के फाटक तक जाती है। हाथ उठाकर टा-टा कहने के उपक्रम में हाथ का बैग जमीन पर गिर गया है। मिनी बैग उठाकर टा-टा कहे इससे पहले ही बस आगे सरक गई। मिनी भयभीत दृष्टि से माँ की ओर देखने लगी है। मैं पुनः सोफे पर बैठ जाता हूँ।

'जाने आज कैसे भूल गई, यह तो कभी 'विश' करना नहीं भूलती थी' सरोज सखेद, साश्चर्य कहती हैं, फिर जैसे स्वयं ही उसके पक्ष में सफाई देने की आवश्यकता अनुभव कर उन्हें कहना पड़ा, 'जब डेढ़ दो साल की थी तभी से मैंने इसे आदत डाल दी। सच, बड़ी अच्छी लगती थी नन्हें-नन्हें हाथ हिलाती हुई। बेबी की तो मैं ज्यादा निगरानी नहीं कर पाई पर इसे मैंने कभी आंया के भरोसे भी नहीं छोड़ा। कहीं पार्टी-वार्टी में हम लोग जाते हैं तो लोग इसके मैनर्स देख कर ताज्जुब कर जाते हैं। डिनर टेबिल पर भी बैठेगी तो सबके साथ, पर रत्ती भर भी जो गड़बड़ कर दे; और बच्चे तो....' नन्हीं मुन्नी मिनी की इस प्रशंन्सा में अतिशयोक्ति नहीं है। उसके गुणों से मैं परिचित हूँ, मुस्करा कर सरोज का समर्थन करता हूँ।

अपनी ही घर गृहस्थी के सम्बन्ध में अधिक बातचीत करने की गलती शायद सरोज ने अनुभव कर ली है, इसी कारण बातों का रुख मेरी ओर मोड़ देती हैं। बीबी-बच्चों की कुशल, माँ का स्वास्थ्य, बहिन की ससुराल, अमुक-तमुक पड़ोसी से सम्बन्धित सभी सूचनाएँ मैं प्रश्नों के अनुसार उन्हें दे देता हूँ। सरोज के विवाह से पूर्व उनका परिवार हमारा पड़ोसी था, यही सम्बन्धित व्यक्तियों के बीच का सूत्र बन गया है।

एक आवश्यक कार्य का स्मरण कर मैं आतुरता से घड़ी की ओर

देखकर कहता हूँ, 'अच्छा, अब चलूँ ।'

'अभी से ? अरे हाँ, मैंने तो पूछा भी नहीं, इधर पत्र-पत्रिकाएँ तो देख ही नही पाती हूँ । आपने क्या कुछ लिख डाला ? छपवा डालिए न एक संग्रह ।' साहित्यकारों की इस कमजोरी को कुछ लोग जानते हैं, शायद मुझे रोकने का यही उपाय सरोज ने ढूंढ़ निकाला ।

'आपने तो इस बीच खूब पेन्टिंग कर ली हैं, ऐसा लगता है ।' मैं जान-बूझ कर कविताओं की बात टाल जाता हूँ । जिनसे वर्षों पहले साथ छूट चुका, उनकी चर्चा व्यर्थ है ।

'कहाँ ? यही दो चार लैन्डस्केप किये थे पहाड़ पर । इस बार कविताएँ लिखने पढ़ने का बड़ा मूड बना था मंसूरी में, पर न कुछ खास लिखा और न पढ़ा ही । यों ही गर्मियां बीत गईं ।' सृजन के गौरव से सरोज का मुख दीप्त हो उठा है ।

'हम भी तो सुनें आपने मंसूरी में क्या कुछ लिख डाला ?' मैं आन्तरिक जिज्ञासा प्रकट करता हूँ ।

'अजी छोड़िये छोड़िये, मुझे खुद ही सन्तोष नहीं है उनसे । सच, बड़ी इम्मेच्योर लगती हैं । हाँ, सुनिये आप कविता सुनेंगे न ? हमारी नन्हीं कवियित्री ने आजकल कुछ गीत सीखे हैं, अभी बुलाती हूँ ।' उत्साह से सरोज आया को आदेश देती हैं, 'आया, मिनी को जरा इधर भेज तो ।'

हम दरवाजे की ओर ताक कर मिनी की प्रतीक्षा करने लगते हैं । एक दो मिनट बाद स्कूल की ड्रेस बदल कर हल्के गुलाबी फ्राक में सजी सजाई गुड़िया-सी मिनी आया के साथ कमरे में आकर माँ से सटकर खड़ी हो गई है ।

'अंकल को नमस्ते करो मिनी ।' सरोज बच्ची के सिर पर हाथ फेर कर एक साथ मिनी और मेरी ओर देखती हैं । परिचय में प्रगाढ़ता लाने

के उद्देश्य से मैं कहता हूँ, 'नमस्ते मिनी, हमें गीत नहीं सुनाओगी ?

'अंकल को वो गीत तो सुनाओ मिनी, जो तुमने मेहता साहब के यहाँ सुनाया था।' माँ उसे प्रोत्साहन देती हैं।

हल्के से मुस्करा, सिर हिलाकर मिनी नकारात्मक भाव जता देती है।

'अच्छी बेटी ! सुनाओ, अंकल कोई बाहर के आदमी थोड़े ही हैं, शरमाते नहीं।' माँ पुचकारती हैं।

मिनी ने इस बार भी फिर वैसे ही सिर हिला दिया है। इस बार सरोज पुचकारती नहीं, तनिक कठोर स्वर में कहती हैं, 'मिनी !'

इतना ही पर्याप्त हुआ। मिनी की मुस्कराहट न जाने कहाँ लुप्त हो गई। जैसे अगले आदेश की प्रतीक्षा ही वह कर रही है।

'हाँ सुनाओ तो वो महादेवी वर्मा का गीत'। सरोज मिनी का मुँह उठाती हैं। संकोच के एक दो पल। और फिर मिनी मुँह उठा, आँखें जमीन में गड़ाकर प्रारम्भ करती है—

'धीले-धीले उतल छितिज छे

आ बछन्त लजनी........'

सरोज मेरी ओर देखती हैं जैसे चैलेन्ज कर रही हों—क्यों है न महादेवी का ही गीत ! कैसा पहचानती है मेरी बेटी !

फिर एक और पंक्ति !

फिर एक और पंक्ति !

मैं पुलक कर मिनी के कपोल थपथपाता हूँ। सरोज फिर आदेश देती हैं, 'हाँ, अब पन्त जी का कोई गीत सुनाओ।'

मिनी का संकोच दूर हो गया है। मेरे ही घुटनों के सहारे खड़ी-खड़ी वह प्रारम्भ करती है—

'बाले तेले बाल दाल में

उलधा दूँ कैथे लोतन........'

फिर क्रमशः अन्य पंक्तियाँ....

सरोज पुनः उसी चैलेन्ज की दृष्टि से मेरी ओर देखती हैं।

'बड़े प्यारे गीत सिखाए हैं आपने' कहकर प्रशंसापूर्ण दृष्टि से मैं सरोज की ओर देखता हूँ।

'बड़ी 'गाइडेन्स' रखनी पड़ती है जी' सरोज कहती हैं 'यहाँ उस मुहल्ले में इसे ये गीत याद रहते! बेबी अपनी पोयम्स भूल गया था। हाँ, गालियाँ खूब याद कर ली थीं बेचारे ने। पहले-पहल यहाँ कोई खेल का साथी नहीं मिला तो न जाने कब, कैसे सामने पान वाले के छोकरों से दोस्ती लगा ली उसने। हमें पता भी नहीं चला। एक दिन पाँच-छः छोकरों को यहाँ ड्राइंगरूम में ले आया, तब मालूम हुआ। अब तो मैं फाटक बन्द करवा देती हूँ। शाम को मेहता साहब के बच्चे आ जाते है या फिर हमीं चल देते हैं। सिविल-लाइन्स में यह दिक्कत तो नहीं होती!' सरोज अपनी कठिनाई इस ढंग से सुनाती हैं कि मुझे अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन करना ही पड़ता है।

'कुछ और सुनाओ मिनी' मैं मिनी के कपोल थपथपाता हूँ।

अब तक वह मेरी मित्र बन चुकी है।

'बच्चन का कोई गीत सुनाओ तो मिनी।' सरोज कल्पना करती हैं कि इस बार 'बच्चन' का ही कोई गीत सुन कर मैं आश्चर्यचकित रह जाऊँगा।

मिनी निःसंकोच भाव से प्रतिवाद करती है, 'नहीं मम्मी' वो दूछला।'

'अच्छा भई जैसी तुम्हारी मर्जी।' सरोज प्रसन्न होकर अपनी स्वीकृति दे देती हैं।

मिनी प्रारम्भ करती है :

'कजला बजला दाल ते

आना कवी यालों ती दली—'

मैं ही नहीं, शायद सरोज भी कुछ देर तक गीत की पंक्तियाँ नहीं पकड़ पाई थीं। तभी याद आया, राह चलते किसी दिन एक छोकरे के मुँह से यही धुन सुनी थी, शायद पूरी पंक्ति स्पष्ट रूप में यों है—

'कजरा बजरा डाल के

आना कभी यारों की गली'

सरोज भी इन अस्पष्ट शब्दों की स्पष्टता ताड़ गई होंगी, इस कारण अचानक मिनी के भोले मुँह पर एक थप्पड़ उन्होंने जड़ दिया।

मैं बच्ची की अज्ञानता की दुहाई देकर उसे माँ से कोप के बचा लेता हूँ। शायद स्वयं सरोज अपनी उत्तेजना पर लज्जित हो गई हैं।

बिदा लेकर लौट आया हूँ। फाटक तक मुझे छोड़ने स्वयं सरोज आई थीं। सड़क पर पहुँचकर मुड़कर देखता हूँ, सरोज फाटक का द्वार पूर्ववत् बन्द कर रही हैं।

किं करोमि जनार्दन

नित्यानज्यू का गीता-पाठ सहसा रुक गया। पाठ के मध्य में इस प्रकार का गतिरोध आज कोई नयी बात नहीं। प्रायः ही ऐसा हो जाता है। गर्मियों की दुपहरी बड़ी अलस होती है न! जरा-जीर्ण, थका-हारा शरीर। अखरोट के घने, हरित गाछ से आती हुई शीतल हवा के झोंके लगते, तो अनायास ही नित्यानज्यू की पलकें भारी होने लगतीं। धीरे-धीरे हाथ की पुस्तक एक ओर गिर जाती। गर्दन लटकाकर वह हल्के-हल्के खर्राटे लेने लगते। जब खर्राटों का स्वर ऊँचा हो जाता, तो कहीं, किसी कमरे से निकलकर छोटा नबू उनके श्वासों के साथ-साथ दन्तहीन पोपले मुँह के फूलने-बैठने का अभिनय कर, खिलखिलाकर हँस पड़ता।

उनकी तन्द्रा टूट जाती और वह पुनः प्रारम्भ से ही पाठ करने लगते।

पर आज ऐसी बात न थी। नित्यानज्यू के दन्तविहीन मुख से 'धलम छेत्ते कुलुच्छेत्ते थमवेता जुजुत्थवः....' ही निकल पाया था कि घर के अंतरंग से 'बरतीवाली' का तीखा स्वर सुनायी दिया। पूरी बात का ज्ञान न होने पर भी, न जाने कैसे, नित्यानज्यू को आभास हो गया कि बात का प्रसङ्ग जो भी हो, व्यंग्य का लक्ष्य उन्हें ही बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। बैरतीवाली उनकी तीनों पुत्रवधुओं में ज्येष्ठ है। उनकी इच्छा के विरुद्ध शिवदत्त ने यह विवाह किया था। विवाह के पश्चात् तत्काल जब गृहकलह हुआ, तो शिवदत्त ने अपनी पत्नी के सम्मुख ही माँ-बाप को सुनाकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया था, 'अपने पसीने की कम किसे दूँ, कहाँ फेंकूँ, इसपर बहस करने का अधिकार किसी को नहीं है !' बड़ी बहू उसी दिन स्थिति को अच्छी तरह समझ गयी थी। सास श्वसुर को सुनाकर बात कह देने में उसे अधिक संकोच नहीं होता।

वह कह रही थी, 'हाँ, बड़े धर्मात्मा हैं ! सर्दियों में एक दिन भी नहाया नहीं, बंडी पहने ही चौके में भात खाने बैठ जाते थे, आज एक छोटी-सी बात के लिए उनका धरम बिगड़ जायगा !'

'बुढ़ापा आयगा, तो जानोगी, बिटिया ! अभी तो हाथ-पैर चलते हैं न ! इसी लिए बन्दर की तरह उछल-कूद मचा रही हो !' यह नित्यानज्यू की पत्नी का थका-माँदा स्वर था। अपने पति की निन्दा सुनकर सम्भवतः उनके लिए मौन-धारण कठिन हो गया था।

'हम ऐसा ढोंग हो नहीं रचते ! बुढ़ापा तो क्या, बुढ़ापे का बाप भी आ जाय....'

फिर वही चिड़चिड़ा स्वर नित्यानज्यू के कानों में टकराया। और उन्होंने कल्पना की कि किस प्रकार इस समय बैरतीवाली अपने तर्क पर जोर देने या सास को चिढ़ाने के लिए बायीं हथेली पर दायीं हथेली

का प्रहार कर अँगूठा दिखा रही होगी !

आत्मग्लानि के कारण नित्यानज्यू का मन तिलमिला उठा । उसी क्षण इस नश्वर शरीर का परित्याग कर देने की तीव्र इच्छा मन में उठने लगी । भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु उनकी दृष्टि में आकर्षणहीन हो उठी । मन बहलाने के लिए पुनः पुस्तक में आँखें दौड़ाने लगे, परन्तु बार-बार आँखों के आगे घर के अंतरंग का कुरुक्षेत्र आ जाता....

अन्दर के कमरे में अब भी विवाद चल रहा था ।

अबकी बार मँझली बहू का स्वर था, 'छोटी से पूछो, वह घर रह जायगी ।' सम्भवतः झिझकते हुए ही उसने यह सुझाव दिया था, क्योंकि उसका स्वर अस्वाभाविक रूप से कोमल था ।

'हाँ, छोटी ही तो सबकी आँखों में खटकती है ! मैं क्या नहीं जानती, तुम सोच रही होगी, छोटी घर में रहे, तो मैं उसका रंगोली वाला डुपट्टा ले जाऊँगी । मैं पन्त की बेटी हूँ, सबकी नस-नस पहचानती हूँ !' छोटी बिफर उठी ।

नित्यानज्यू के लिए और अधिक कुछ सुनना असम्भव हो गया । उन्हें लगा, जैसे उनका समस्त जीवन व्यर्थ बीत गया हो । जीवन के इस अन्तिम चरण में भरे-पूरे, सुनियंत्रित, सुखद पारिवारिक जीवन का स्वप्न जैसे आज भंग हो गया हो । उनकी कल्पना मिथ्या थी । आज प्रत्यक्ष रूप में उनके सम्मुख जो सत्य खड़ा था, वह था घर के अंतरंग का कोलाहल, बहुओं की ईर्ष्या, वृद्धा के प्रति परिवार का उपेक्षाभाव !

इस कलह का मूल कारण प्रत्यक्ष रूप में नित्यानज्यू की धार्मिक भावना से सम्बन्धित था । यदि ऐसा न होता, तो आत्मग्लानि और पश्चाताप का असहनीय बोझ उन्हें न उठाना पड़ता । ऐसे ही वैराग्य

के क्षणों में एक दिन उन्होंने सांसारिक जीवों के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न करने और असत्य, प्रलोभन आदि विकारों को त्याग देने का संकल्प किया था। परन्तु उस दिन उन्होंने यह न सोचा था कि इसी संकल्प के कारण उनका जीवन कभी धर्म-संकट में भी पड़ जायगा।

घर के सम्मुख, ढलवाँ भूमि में, शिवदत्त ने बीस-पच्चीस सेव-वृक्ष लगाकर एक छोटा-मोटा बगीचा खड़ा कर लिया है। इस साल सभी पेड़ अच्छे फले हैं। परन्तु फल तैयार होने तक कितने रह पायँगे कोई नहीं जानता। आँधी-पानी को दैवी प्रकोप कहकर टाला जा सकता है, परन्तु गाँव के छोकरों और बन्दरों से रक्षा किये बिना एक फल भी पा जाना सम्भव नहीं। सामान्य दिनों बगीचे की रखवाली में कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती। घर के अन्दर आते-जाते ऊँचे स्वर में बोल देने या खाली कनस्तर बजा देने से ही बन्दरों को गृहस्वामी की उपस्थिति का आभास हो जाता है। परन्तु आज पड़ोसी गाँव से विवाहोत्सव के निमंत्रण पर घर के सभी सदस्यों की सम्भावित अनुपस्थिति चिन्ता का विषय बन गयी है। वृद्धावस्था के कारण नित्यानज्यू विवाहोत्सव में न जा पायँगे, घर ही रहेंगे। परन्तु उनका जो संकल्प है, उसके कारण समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। आँगन में सुखाने के लिए डाले गये धान में गाय-बछिया आकर मुँह मारने लगे, तो भी नित्यानज्यू उसे स्वयं नहीं हटायँगे। वह तो सूचना-भर दे देंगे, 'ओरी कमला! देख गाय आयी है।' सीधे गाय को हटा देने से संकल्प टूट जायगा, परलोक बिगड़ जायगा न! सारी ज़िन्दगी परलोक ही बिगाड़ा किये, अब बुढ़ापे में भी कुछ पुण्यार्जन न हुआ, तो....

नित्यानज्यू सुन रहे हैं। गृहिणी बारी-बारी से सभी से अनुनय-विनय कर चुकी है। पर विवाहोत्सव की धूमधाम छोड़ कर घर में बैठकर बन्दर

हाँके, ऐसा कौन होगा ? तीनों बहुओं का विवाहोत्सव में जाने का निर्णय पत्थर की लकीर की तरह अटल है। बड़ी बहू ने तो तुनककर सास से यहाँ तक कह दिया है कि वही क्यों नहीं घर में रह जातीं ? उत्तर देने के लिए कोई तर्क सास के पास नहीं है। तर्क देने पर भी क्या मुँहजोर बैरतीवाली चुप हो जायगी ? बैरती का पानी है कि कोई ठट्ठा ! शिवदत्त की समझ को कौन क्या कहे ! मँझली समझती है स्थिति को। सास के न पहुँचने से 'सगुन-आखर' गानेवालियों का मन सौ मन का एक मन हो जायगा ! गाँव-भर में किसी को भी तो घर-घर के पूत-परिवार का नाम याद नहीं। सगुन-आखर में तीन-तीन पुश्तों का नाम जो लेना पड़ता है। जब नाम याद नहीं पड़ता, तो सभी एक-दूसरे का मुँह तकने लगती हैं ! 'सकूना दे काजै' कहते ही हल्के पटाखे की तरह गीत की तान एकदम टूट जाती है।....तभी हलचल मचेगी, अरे शिबुआ की ईजा (माँ) कहाँ है ? उसकी सास कैसे फर-फर गीत बढ़ा देती हैं ! मँझली बहू समझदार है। चुपके-चुपके अपना पूरी बाँह का जम्फर भी सास को दे दिया है पहनने के लिए।

छोटी कुड़मुड़ाकर कहती जाती है, 'मँझली ने जम्फर क्या दे दिया, उससे कुछ कहती ही नहीं !'

बहुओं के बाद बच्चों की बारी आयी। कमला ने जया दीदी से झुमकेवाले गाने पर नाचना सीख लिया है। वह आज नाचेगी। घर किसी हालत में नहीं रह सकती !

नबू को मनाने की हिम्मत किसमें है ! सुबह से ही दादा के हुक्के की नली मुँह में लगा, पोपला मुँह बनाकर कह रहा है, 'घलम छेत्ते, कुलू छेत्ते बलात में जाइत्छवा....'

पूरन तो घर में रह ही नहीं सकता। अपने लाडले के पक्ष में स्वयं बड़ी बहू ही दलील पेश कर रही हैं, 'बन्दरों का क्या ठिकाना ? कहीं

नोंच-खसोट लिया, तो आफत मेरी आयगी न! अभी तो बीमारी से उठा है!'

गृहिणी का धैर्य छूट गया है। झल्लाकर कहती हैं, 'खाने दो! बन्दर खायँ, चोर खायँ, मेरी बला से! मुझे तो कोई फल खाना नहीं है! रत्ती भर कोई ठण्डी चीज खा लेती हूँ, तो पेट चलने लगता है। वह तो तुम्हीं भागवानों के लिए कह रही थी, पंसेरी-भर खाकर भी डकार नहीं लेतीं। दो-चार फल रह जायँगे, तो तुम्हारे ही भाई-बहनों के यहाँ भिजवा दूँगी। लोग कैसी-कैसी चीजें अपने सम्बधियों को भिजवाते हैं। एक मेरी बहुएँ हैं, औरों को क्या भिजवायँगी, अपना घर ही नहीं सँभाल सकतीं! जाओ, सब जाओ! सब जाओ! तुम्हारे बिना ही तो उनका विवाह रुक जायगा?'

नित्यानज्यू उठ कर खिन्न मन इधर-उधर चक्कर लगाते हैं। अभी बहुएँ नये वस्त्र पहनकर बाहर निकलेंगी। नबू जाते-जाते कहेगा, 'बब्बाज्यू, हम जा रहे हैं।' तीनों बहुएँ मुँह फुलाये, अपने-अपने बच्चों का हाथ थामे, एक ओर निकल जायँगी। उनकी पत्नी जाते-जाते झल्लाकर कह जायँगी, 'चाय के लिए दूध अलमारी में रखा है।' या ऐसी ही अन्य कोई सूचना। आँखें नीची किये वह सब कुछ देख-सुन लेंगे। इस बवंडर का कारण वही तो हैं न!....फिर गीता-पाठ में मन लगाने का प्रयत्न किया जायगा।....हे कृष्ण! इस कुरुक्षेत्र में मुझे कुछ नहीं सूझता! मुरारी! कोई राह बताओ!

अपने आगमन की सूचना देने के लिए नित्यानज्यू थोड़ा खँखारकर द्वार खोलते हैं। बहुएँ सिमटकर इधर-उधर व्यस्त हो गयी हैं। बड़ी बहू का घूँघट भी कुछ अधिक गिरा हुआ है—'हर माल चार आना' वाले से खरीदी क्रीम का प्रसाधन श्वसुर की दृष्टि से बचाने के लिए।

नित्यानज्यू कहते हैं, 'कमला, तुम लोग निश्चिन्त होकर जाओ।

बगीचे की रखवाली मैं कर लूँगा।' शब्दों में क्षोभ की झलक तक नहीं।

तीनों बहुएँ ही नहीं, गृहिणी भी चकित हैं।

सब लोग चले गये हैं। जाते समय बहुएँ प्रसन्न थीं। मँझली बहू के पाँवों में 'शकुन्तला' की जोड़ी छोटी ने अपने हाथों बाँधी थी। बैरतीवाली ने सास के दुपट्टे की सलवटें अपने हाथों ठीक की थीं। दादी की गोद में बैठे-बैठे मुन्नी तुतलायी थी 'बब्बाज्यू, तुमाले लिए मम्-मम् (मिठाई) लायँगे!' नित्यानज्यू ने गृहिणी का नया जम्फर देखकर चुटकी ली थी 'पुड़िया में बाँध लेना, मुन्नी! मम्-मम् से तेरी दादी का जम्फर कहीं ख़राब न हो जाय!' दोनों बहुओं ने आँचल से मुँह ढँक लिया था, लज्जा के कारण छोटी ने दाँतों-तले जीभ दबायी थी, शायद।

घर में सन्नाटा है। किसी को घर में न देखकर अभी प्रेमसिंह का लड़का बगीचे में घुस आया था। नित्यानज्यू ने खँखार कर पूछ लिया, 'हें रे मोहनियां, बरात में पूड़ी उड़ाने तू नहीं गया?'

लड़का सकपका गया, 'पण्डितजी, मेरी बकरी तो इधर नहीं आयी?'

पण्डितजी सब-कुछ समझते हैं। मुस्करा कर कह दिया, 'बकरी की चिन्ता तुझे क्या पड़ी है, बरात देखने जा। बकरी शाम तक घर चली ही जायगी।'

लड़का आँखें नीची कर चला गया।

फिर घर में सन्नाटा देखकर बन्दरों की एक टोली आयी। पण्डितजी ने भरसक पूरे जोर से चिल्ला कर उन्हें निमंत्रित किया :

रामजी के बन्दर रामजी के पेड़

खाओ-खाओ बन्दर भर-भर पेट

निमंत्रण का अर्थ बन्दर नहीं समझे, तो इसमें नित्यानज्यू का क्या

दोष ? और भी कई बार ऐसा ही हुआ । न जाने क्यों, बिना फलों को चखे ही हर बार बन्दर लौट गये । उनके भोजन में किसी भी प्रकार का विघ्न डालने की इच्छा तो नित्यानज्यू की थी ही नहीं ! लेकिन उन बन्दरों को वह क्या कहें !

रात में गीता-पाठ करते-करते ही नित्यानज्यू की आँखें लग गयीं, तो स्वप्न में देखा, पीताम्बर धारण किये श्रीकृष्ण उन्हें रथ पर बैठाकर कहीं लम्बे-चौड़े मैदान में लिये जा रहे हैं । नित्यानज्यू देखते हैं, उनके सामने एक विशाल दल उमड़ा चला आ रहा है । कौन हैं ये ? कौरवों की सेना ? नहीं-नहीं ! छोटे-बड़े आकार के कोटि-कोटि बानर ।

पीताम्बरधारी कहते हैं, 'नित्यानन्द, घबराने से काम नहीं चलेगा । इन शत्रुओं पर प्रहार करो !'

भय के कारण नित्यानज्यू के हाथ-पैर थर-थर काँप रहे हैं, ललाट पर पसीने की बूँदें फैल गयी हैं । घिघियाकर कहते हैं, 'नहीं प्रभो ! मेरा परलोक बिगड़ जायगा । मेरा संकल्प ...

'घबराओ नहीं, उठो ! अन्दर के घर की चाबी दो ।' पत्नी कह रही थीं ।

विवाहोत्सव से सभी लौट आये हैं । बच्चे अपनी माँओं की गोद में सो गये हैं ।

पत्नी के मुख की ओर अचकचाकर देखते हुए नित्यानज्यू पूछते हैं, 'क्या-क्या खिलाया भोज में ? धूलि-अर्घ्य में लड़कीवालों ने कितना रुपया रखा था ?'

गृहपत्नी का मन चुपचाप सो जाने को है । कोई उत्तर उनकी ओर से नहीं मिलता ।

*

कोसी का घटवार

गुसांई का मन चिलम में भी नहीं लगा। मिहल की छाँह से उठकर वह फिर एक बार घट (पनचक्की) के अन्दर गया। अभी खप्पर में एक चौथाई से भी अधिक गेहूँ शेष था। खप्पर में हाथ डालकर उसने व्यर्थ ही उलटा-पलटा और चक्की के पाटों के वृत्त में फैले हुये आटे को झाड़कर एक ढेर बना दिया। बाहर आते-आते उसने फिर एक बार और खप्पर में झाँककर देखा, जैसे यह जानने के लिये कि इतनी देर में कितनी पिसाई हो चुकी है, परन्तु अन्दर की मिकदार में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। खस्स-खस्स की ध्वनि के साथ अत्यन्त धीमी गति से ऊपर का पाट चल रहा था। घट का प्रवेश-द्वार बहुत कम ऊँचा था, खूब नीचे तक झुककर वह बाहर निकला। सर के बालों और बाहों पर आटे की एक हलकी सफेद पर्त बैठ गयी थी।

खम्भे का सहारा लेकर वह बुदबुदाया, 'जा, स्साला ! सुबह से अब तक दस पंसेरी भी नहीं हुआ। सूरज कहाँ का कहाँ चला गया है। कैसी अनहोनी बात....'

बात अनहोनी तो है ही। जेठ बीत रहा है। आकाश में कहीं बादलों का नाम-निशान ही नहीं। अन्य वर्षों अब तक लोगों की धानरोपाई पूरी हो जाती थी, पर इस साल नदी-नाले सब सूखे पड़े हैं। खेतों की सिंचाई तो दरकिनार, बीज की क्यारियाँ सूखी जा रही हैं। छोटे नाले-गूलों के किनारे के घट महीनों से बन्द हैं। कोसी के किनारे है गुसांई का यह घट। पर इसकी भी चाल ऐसी कि लद्दू घोड़े की चाल को मात देती है।

चक्की के निचले खण्ड में छिच्छिर-छिच्छिर की आवाज के साथ पानी को काटती हुई मथानी चल रही थी। कितनी धीमी आवाज ! अच्छे खाते-पीते ग्वालों के घर में दही की मथानी इससे ज्यादा शोर करती है। इसी मथानी का वह शोर होता था कि आदमी को अपनी बात नहीं सुनायी देती और अब तो भले नदी पार कोई बोले, तो बात यहाँ सुनायी दे जाय !

छप्प....छप्प....छप्प....पुरानी फौजी पैंट को घुटनों तक मोड़कर गुसांई पानी की गूल के अन्दर चलने लगा। कहीं कोई सूराख-निकास हो, तो बन्द कर दे। एक बूँद पानी भी बाहर न जाय। बूँद-बूँद की कीमत है इन दिनों। प्रायः आधा फर्लांग चलकर वह बाँध पर पहुँचा। नदी की पूरी चौड़ाई को घेरकर पानी का बहाव घट की गूल की ओर मोड़ दिया गया था। किनारे की मिट्टी-घास लेकर उसने बाँध में एक-दो स्थान पर निकास बन्द किया और फिर गूल के किनारे-किनारे चलकर घट के पास आ गया।

अन्दर जाकर उसने फिर पाटों के वृत्त में फैले हुए आटे को

बुहार कर ढेरी में मिला दिया। खप्पर में अभी थोड़ा-बहुत गेहूँ शेष था। वह उठकर बाहर आया।

दूर रास्ते पर एक आदमी सर पर पिसान रखे उसकी ओर आ रहा था। गुसांई ने उसकी सुविधा का ख्याल कर वहीं से आवाज दे दी, 'हैं हो ! यहाँ लम्बर देर में आयगा। दो दिन का पिसान अभी ज़मा है। ऊपर उमेदसिंह के घट में देख लो।'

उस व्यक्ति ने मुड़ने से पहले एक बार और प्रयत्न किया। खूब ऊँचे स्वर में पुकारकर वह बोला, 'जरूरी है, जी, पहले हमारा लम्बर नहीं लगा दोगे ?'

गुसाईं होठों-ही-होठों में मुस्कराया, स्साला कैसे चीखता है, जैसे घट की आवाज इतनी हो कि मैं सुन न सकूँ ! कुछ कम ऊँची आवाज़ में उसने हाथ हिलाकर उत्तर दे दिया, 'यहाँ जरूरी का भी बाप रखा है, जी ! तुम ऊपर चले जाओ !'

वह आदमी लौट गया।

मिहल की छाँव में बैठकर गुसांई ने लकड़ी के जलते कुन्दे को खोदकर चिलम सुलगायी और गुड़-गुड़ करता धुआँ उड़ाता रहा।

खस्सर-खस्सर चक्की का पाट चल रहा था।

किट-किट-किट-किट खप्पर से दाने गिराने वाली चिड़िया पाट पर टकरा रही थी।

छिच्छिर-छिच्छिर की आवाज के साथ मथानी पानी को काट रही थी।

और कहीं कोई आवाज नहीं। कोसी के बहाव में भी कोई ध्वनि नहीं। रेती-पाथरों के बीच में टखने-टखने तक फैला पानी क्या आवाज करेगा ! पानी के गर्भ से निकलकर छोटे-छोटे पत्थर भी अपना सर उठाये आकाश को निहार रहे थे। दोपहरी ढलने पर भी इतनी तेज

धूप ! कहीं चिरैया भी नहीं बोलती । किसी प्राणी का प्रिय-अप्रिय स्वर नहीं ।

सूखी नदी के किनारे बैठा गुसांई सोचने लगा, क्यों उस व्यक्ति को लौटा दिया ? लौट तो वह जाता ही घट के अन्दर टच्च पड़े पिसान के थैलों को देखकर । दो-चार क्षण की बातचीत का आसरा ही होता !

कभी-कभी गुसांई को यह अकेलापन काटने लगता है । सूखी नदी के किनारे का यह अकेलापन नहीं, ज़िन्दगी-भर साथ देने के लिए जो अकेलापन उसके द्वार पर धरना देकर बैठ गया है, वही । जिसे अपना कह सके, ऐसे किसी प्राणी का स्वर उसके लिये नहीं , पालतू कुत्ते-बिल्ली का स्वर भी नहीं । क्या ठिकाना ऐसे मालिक का, जिसका घर-द्वार नहीं । बीवी-बच्चे नहीं, खाने-पीने का ठिकाना नहीं....

घुटनों तक उठी हुई पुरानी फौजी पैंट के मोड़ को गुसांई ने खोला । गूल में चलते हुये थोड़ा भाग भीग गया था । पर इस गर्मी में उसे भीगी पैंट की यह शीतलता अच्छी लगी । पैंट की सलवटों को ठीक करते-करते गुसांई ने हुक्के की नली से मुँह हटाया । उसके होंठों में बायें कोने पर हलकी सी मुस्कान उभर आयी । बीती बातों की याद.... गुसांई सोचने लगा, इसी पैंट की बदौलत यह अकेलापन उसे मिला है ...नहीं, यादें करने को मन नहीं करता । पुरानी, बहुत पुरानी बातें वह भूल गया है, पर हवलदार साहब की पैंट की बात उसे नहीं भूलती ।

ऐसी ही फौजी पैंट पहनकर हवलदार धरमसिंह आया था, लॉन्ड्री की धुली, नोकदार, क्रीज़वाली पैंट ! वैसी ही पैंट पहनने की महत्वकांक्षा लेकर गुसांई फौज में गया था । पर फौज से लौटा, तो पैंट के साथ-साथ ज़िन्दगी का अकेलापन भी उसके साथ आ गया ।

पैन्ट के साथ और भी कितनी स्मृतियाँ सम्बद्ध हैं । उस बार की छुट्टियों की बात....

कौन महीना ? हाँ, बैसाख ही था। सर पर क्रास खुखरी के क्रैस्ट वाली, काली, किश्तीनुमा टोपी को तिरछा रखकर, फौजी वर्दी पहने वह पहली बार एनुवल-लीव पर घर आया, तो चीड़ बन की आग की तरह खबर इधर-उधर फैल गयी थी। बच्चे-बूढ़े, सभी उससे मिलने आये थे। चाचा का गोठ एकदम भर गया था, ठसाठस्स। बिस्तर की नयी, एकदम साफ, जगमग, लाल-नीली धारियोंवाली दरी आँगन में बिछ नी पड़ी थी लोगों को बिठाने के लिए। खूब याद है, आंगन का गोबर दरी में लग गया था। बच्चे-बूढ़े, सभी आये थे। सिर्फ चना-गुड़ या हल्द्वानी के तम्बाकू का लोभ ही नहीं था, कल के शर्मीले गुसांई को इस नये रूप में देखने का कौतूहल भी था। पर गुसांई की आँखें उस भीड़ में जिसे खोज रही थीं, वह वहाँ नहीं थी।

नाले पार के अपने गाँव से भैंस के कट्या को खोजने के बहाने दूसरे दिन लछमा आयी थी। पर गुसांई उस दिन उससे मिल न सका। गाँव के छोकरे ही गुसांई की जान को बवाल हो गये थे। बुड्ढे नरसिंह प्रधान उन दिनों ठीक ही कहते थे, आजकल गुसांई को देखकर सोबनियाँ का लड़का भी अपनी फटी घेर की टोपी को तिरछी पहनने लग गया है।....दिन-रात बिल्ली के बच्चों की तरह छोकुरे उसके पीछे लगे रहते थे, सिगरेट-बीड़ी या गपशप के लोभ में।

एक दिन बड़ी मुश्किल से मौका मिला था उसे। लछमा को पात-पतेल के लिए जंगल जाते देखकर वह छोकरों से कांकड़ के शिकार का बहाना बनाकर अकेले जंगल को चल दिया था। गाँव की सीमा से बहुत दूर, काफल के पेड़ के नीचे गुसांई के घुटने पर सर रखकर, लेटी-लेटी लछमा काफल खा रही थी। पके, गदराये, गहरे लाल-लाल काफल। खेल-खेल में काफलों की छीना-झपटी करते गुसांई ने लछमा की मुट्ठी भींच दी थी। टप-टप काफलों का गाढ़ा लाल रस उसकी पैंट

पर गिर गया था। लछमा ने कहा था, 'इसे यहीं रख जाना, मेरी पूरी बाँह की कुर्ती इसमें से निकल आयगी।' वह खिलखिलाकर अपनी बात पर स्वयं ही हँस दी थी।

पुरानी बात—क्या कहा था गुसांई ने, याद नहीं पड़ता....तेरे लिए मखमल की कुर्ती ला दूँगा, मेरी सुवा !....या कुछ ऐसा ही।

पर लछमा को मखमल की कुर्ती किसने पहनायी होगी—पहाड़ी पार के रमुवाँ ने, जो तुरी-निसाण लेकर उसे ब्याहने आया था ?

'जिसके आगे-पीछे भाई बहिन नहीं, माई-बाप नहीं, परदेश में बन्दूक की नोक पर जान रखनेवाले को छोकरी कैसे दे दें हम ?' लछमा के बाप ने कहा था।

उसका मन जानने के लिए गुसांई ने टेढ़े-तिरछे बात चलवायी थी।

उसी साल मंगसिर की एक ठंडी, उदास शाम को गुसांई की यूनिट के सिपाही किसनसिंह ने क्वार्टर-मास्टर स्टोर के सामने खड़े-खड़े उससे कहा था, 'हमारे गाँव के रामसिंह ने ज़िद की, तभी छुट्टियाँ बढ़ानी पड़ीं। इस साल उसकी शादी थी। खूब अच्छी औरत मिली है, यार ! शक्ल-सूरत भी खूब है, एकदम पटाखा ! बड़ी हँस-मुख है। तुमने तो देखा ही होगा, तुम्हारे गाँव के नज़दीक की ही है। लछमा-लछमा कुछ ऐसा ही नाम है।'

गुसांई को याद नहीं पड़ता, कौन-सा बहाना बनाकर वह किसनसिंह के पास से चला आया था।....रम-डे था उस दिन। हमेशा आधा पैग लेने वाला गुसांई उस दिन दो पैग रम लेकर अपनी चारपाई पर पड़ गया था।....हवलदार मेजर ने दूसरे दिन पेशी करवायी थी—मलेरिया प्रिकाशन न करने के अपराध में।....सोचते-सोचते गुसांई बुदबुदाया, 'स्साला एडजुटेन्ट !'

गुसांई सोचने लगा, उस साल छुट्टियों में घर से बिदा होने से एक

दिन पहले वह मौका निकालकर लछमा से मिला था।

'गंगनाथज्यू की कसम, जैसा तुम कहोगे, मैं वैसा ही करूँगी!' आँखों में आँसू भरकर लछमा ने कहा था।

वर्षों से वह सोचता आया है, कभी लछमा से भेंट होगी, तो वह अवश्य कहेगा कि वह गंगनाथ का जागर लगाकर प्रायश्चित जरूर कर ले। देवी-देवताओं की झूठी कसमें खाकर उन्हें नाराज करने से क्या लाभ? जिस पर भी गंगनाथ का कोप हुआ, वह कभी फल-फूल नहीं पाया। पर लछमा से कब भेंट होगी, यह वह नहीं जानता। लड़कपन के संगी-साथी नौकरी-चाकरी के लिए मैदानों में चले गये हैं। गाँव की ओर जाने का उसका मन नहीं होता। लछमा के बारे में किसी से पूछना उसे अच्छा नहीं लगता।

जितने दिन नौकरी रही, वह पलटकर अपने-गाँव नहीं आया। एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन का वालन्टियरी ट्रान्सफर लेनेवालों की लिस्ट में नायक गुसांई सिंह का नाम ऊपर आता रहा—लगातार पन्द्रह साल तक।

पिछले बैसाख में ही वह गाँव लौटा, पन्द्रह साल बाद, रिजर्व में आने पर। काले बालों को लेकर गया था, खिचड़ी बाल लेकर लौटा। लछमा का हठ उसे अकेला बना गया।

आज इस अकेलेपन में कोई होता, जिसे गुसांई अपनी ज़िन्दगी की किताब पढ़कर सुनाता! शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर....कितना देखा, कितना सुना और कितना अनुभव किया है उसने....

पर नदी किनारे की यह तपती रेत, पनचक्की की खटर-पटर और मिहल की छाया में ठंडी चिलम को निष्प्रयोजन गुड़गुड़ाता गुसांई। और चारों ओर अन्य कोई नहीं। एकदम निर्जन, निस्तब्ध, सुनसान....

एकाएक गुसांई का ध्यान टूटा।

पिसान के थैलों को इधर-उधर रखने लगा। काठ की चिड़ियाँ किट-किट बोल रही थीं और उसी गति के साथ गुसांई को अपने हृदय की धड़कन का आभास हो रहा था।

घट के छोटे कमरे में चारों ओर पिसे हुए अन्न का चूर्ण फैल रहा था, जो अब तक गुसांई के पूरे शरीर पर छा गया था। इस कृत्रिम सफेदी के कारण वह वृद्ध-सा दिखायी दे रहा था। स्त्री ने उसे नहीं पहचाना।

उसने दुबारा वे ही शब्द दुहराये। वह अब भी तेज धूप में बोझा सर पर रखे हुये गुसांई का उत्तर पाने को आतुर थी। शायद नकारात्मक उत्तर मिलने पर वह उलटे पाँव लौटकर किसी अन्य चक्की का सहारा लेती।

दूसरी बार के प्रश्न को गुसांई न टाल पाया, उत्तर देना ही पड़ा, 'यहाँ पहले ही टीला लगा है, देर तो होगी ही।' उसने दबे-दबे स्वर में कह दिया।

स्त्री ने किसी प्रकार की अनुनय-विनय नहीं की। शाम के आटे का प्रबन्ध करने के लिए वह दूसरी चक्की का सहारा लेने को लौट पड़ी।

गुसांई कमर झुकाकर घट से बाहर निकला। मुड़ते समय स्त्री की एक झलक देखकर उसका सन्देह विश्वास में बदल गया था। हताश-सा वह कुछ क्षणों तक उसे जाते हुये देखता रहा और फिर अपने हाथों तथा सर पर गिरे हुये आटे को झाड़कर वह एक-दो कदम आगे बढ़ा। उसके अन्दर की किसी अज्ञात शक्ति ने जैसे उसे वापस जाती हुई उस स्त्री को बुलाने को बाध्य कर दिया। आवाज देकर उसे बुला लेने को उसने मुँह खोला, परन्तु आवाज न दे सका। एक झिझक, एक असमर्थता थी, जो उसका मुँह बन्द कर रही थी। वह

स्त्री नदी तक पहुँच चुकी थी। गुसाईं के अन्तर में तीव्र उथल-पुथल मच गयी। इस बार आवेग इतना तीव्र था कि वह स्वयं को नहीं रोक पाया, लड़खड़ाती आवाज में उसने पुकारा, 'लछमा !'

घबराहट के कारण वह पूरे जोर से आवाज नहीं दे पाया था। स्त्री ने यह आवाज नहीं सुनी। इस बार गुसांई ने स्वस्थ होकर पुनः पुकारा, 'लछमा !'

लछमा ने पीछे मुड़कर देखा। मायके में उसे सभी इसी नाम से पुकारते थे, यह सम्बोधन उसके लिए स्वाभाविक था। परन्तु उसे शंका शायद यह थी कि चक्की वाला एक बार पिसान स्वीकार न करने पर भी दुबारा उसे बुला रहा है या उसे केवल भ्रम हुआ है। उसने वहीं से पूछा,' मुझे पुकार रहे हैं, जी ?'

गुसांई ने संयत स्वर में कहा, 'हाँ, ले आ, हो जायगा।'

लछमा क्षण-भर रुकी और फिर घट की ओर लौट आयी।

अचानक साक्षात्कार होने का मौका न देने की इच्छा से गुसांई व्यस्तता का प्रदर्शन करता हुआ मिहल की छाँह में चला गया।

लछमा पिसान का थैला घट के अन्दर रख आयी। बाहर निकलकर उसने आँचल के कोर से मुँह पोंछा। तेज़ धूप में चलने के कारण उसका मुँह लाल हो गया था। किसी पेड़ की छाया में विश्राम करने की इच्छा से उसने इधर-उधर देखा। मिहल के पेड़ की छाया में घट की ओर पीठ किये गुसांई बैठा हुआ था। निकट स्थान में दाड़िम के एक पेड़ की छाँह को छोड़कर अन्य कोई बैठने लायक स्थान नहीं था। वह उसी ओर चलने लगी।

गुसांई की उदारता के कारण ऋणी-सी होकर ही जैसे उसने निकट आते-आते कहा, 'तुम्हारे बाल-बच्चे जीते रहें, घटवारजी ! बड़ा उपकार का काम कर दिया तुमने ! ऊपर के घट में भी जाने कितनी देर में

लम्बर मिलता।'

अजात सन्तति के प्रति दिये गये आशीर्वचनों को गुसांई ने मन-ही-मन विनोद के रूप में ग्रहण किया। इस कारण उसकी मानसिक उथल-पुथल कुछ कम हो गयी। लछमा उसकी ओर देखे, इससे पूर्व ही उसने कहा, 'जीते रहें तेरे बाल-बच्चे लछमा! मायके कब आयी?'

गुसांई ने अन्तर में घुमड़ती आँधी को रोककर यह प्रश्न इतने संयत स्वर में किया, जैसे वह भी अन्य दस आदमियों की तरह लछमा के लिए एक साधारण व्यक्ति हो।

दाड़िम की छाया में पात—पतेल झाड़कर बैठते लछमा ने शंकित दृष्टि से गुसांई की ओर देखा। कोसी की सूखी धार अचानक जल-प्लावित होकर बहने लगती, तो भी लछमा को इतना आश्चर्य नहीं होता, जितना अपने स्थान से केवल चार कदम की दूरी पर गुसांई को इस रूप में देखने पर हुआ। विस्मय से आँखें फाड़कर वह उसे देखे जा रही थी, जैसे अब भी उसे विश्वास न हो रहा हो कि जो व्यक्ति उसके सम्मुख बैठा है, वह उसका पूर्व-परिचित गुसांई ही है।

'तुम?' जाने लछमा क्या कहना चाहती थी, शेष शब्द उसके कंठ में ही रह गये।

'हाँ, पिछले साल पल्टन से लौट आया था, वक्त काटने के लिये यह घट लगवा लिया।' गुसांई ने उसकी जिज्ञासा शान्त करने के लिये कहा। होंठों पर मुस्कान लाने की उसने असफल कोशिश की।

कुछ क्षणों तक दोनों कुछ नहीं बोले। फिर गुसांई ने ही पूछा, 'बाल-बच्चे ठीक हैं?'

आखें जमीन पर टिकाये, गरदन हिलाकर संकेत से ही उसने बच्चों की कुशलता की सूचना दे दी। जमीन पर गिरे एक दाड़िम के फूल को हाथों में लेकर लछमा उसकी पंखुड़ियों को एक-एक कर निरुद्देश्य तोड़ने

लगी। और गुसांई पतली सींक लेकर आग को कुरेदता रहा।

बातों का क्रम बनाये रखने के लिये गुसांई ने पूछा, 'तू अभी और कितने दिन मायके ठहरनेवाली है ?'

अब लछमा के लिये अपने को रोकना असम्भव हो गया। टप्-टप्-टप्, वह सर नीचा किये आँसू गिराने लगी। सिसकियों के साथ-साथ उसके उठते-गिरते कन्धों को गुसांई देखता रहा। उसे यह नहीं सूझ रहा था कि वह किन शब्दों में अपनी सहानुभूति प्रकट करे।

इतनी देर बाद सहसा गुसांई का ध्यान लछमा के शरीर की ओर गया। उसके गले में काला चरेऊ (सुहाग चिन्ह) नहीं था। हतप्रभ-सा गुसांई उसे देखता रहा। अपनी व्यवहारिक अज्ञनता पर उसे बेहद झुँझलाहट हो रही थी।

आज अचानक लछमा से भेंट हो जाने पर वह उन सब बातों को भूल गया, जिन्हें वह कहना चाहता था। इन क्षणों में वह केवल-मात्र श्रोता बनकर रह जाना चाहता था। गुसांई की सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि पाकर लछमा आँसू पोंछती हुई अपना दुखड़ा रोने लगी, 'जिसका भगवान नहीं होता, उसका कोई नहीं होता। जेठ-जेठानी से किसी तरह पिण्ड छुड़ाकर यहाँ माँ की बीमारी में आयी थी, वह भी मुझे छोड़कर चली गयी। एक अभागा मुझे रोने को रह गया है, उसी के लिए जीना पड़ रहा है। नहीं तो पेट पर पत्थर बाँधकर कहीं डूब मरती, जंजाल कटता।'

'यहाँ काका-काकी के साथ रह रही हो ?' गुसांई ने पूछा।

'मुश्किल पड़ने पर कोई किसी का नहीं होता, जी! बाबा की जायदाद पर उनकी आखें लगी हैं, सोचते हैं, कहीं मैं हक़ न जमा लूँ। मैंने साफ-साफ कह दिया, मुझे किसी का कुछ लेना-देना नहीं। जंगलात का लीसा ढो-ढोकर अपनी गुजर कर लूँगी, किसी की आँख का काँटा

बनकर नहीं रहूँगी।

गुसांईं ने किसी प्रकार की मौखिक सम्वेदना नहीं प्रकट की। केवल सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उसे देखता भर रहा। दाड़िम के वृक्ष से पीठ टिकाये लछमा घुटने मोड़कर बैठी थी। गुसांईं सोचने लगा, पन्द्रह सोलह साल किसी की ज़िन्दगी में अन्तर लाने के लिये कम नहीं होते, समय का यह अन्तराल लछमा के चेहरे पर भी एक छाप छोड़ गया था, पर उसे लगा, उस छाप के नीचे वह आज भी पन्द्रह वर्ष पहले की लछमा को देख रहा है।

'कितनी तेज धूप है; इस साल!' लछमा का स्वर उसके कानों में पड़ा। प्रसङ्ग बदलने के लिये ही जैसे लछमा ने यह बात जान-बूझकर कही हो।

और अचानक उसका ध्यान उस ओर चला गया, जहाँ लछमा बैठी थी। दाड़िम की फैली-फैली अधढँकी डालों से छनकर धूप उसके शरीर पर पड़ रही थी। सूरज की एक पतली किरन न जाने कब से लछमा के माथे पर गिरी हुई एक लट को सुनहरी रंगीनी में डुबा रही थी। गुसांईं एकटक उसे देखता रहा।

'दोपहर तो बीत चुकी होगी' लछमा ने प्रश्न किया, तो गुसांईं का ध्यान टूटा, 'हाँ, अब तो दो बजने वाले होंगे' उसने कहा, 'उधर धूप लग रही हो' तो इधर आ जा छाँव में।' कहता हुआ गुसांईं एक जम्हाई लेकर अपने स्थान से उठ गया।

'नहीं, यहीं ठीक है' कहकर लछमा ने गुसांईं की ओर देखा, लेकिन वह अपनी बात कहने के साथ ही दूसरी ओर को देखने लगा था।

घट में कुछ देर पहले डाला हुआ पिसान समाप्ति पर था। नम्बर पर रखे हुये पिसान की जगह उसने जाकर जल्दी-जल्दी लछमा का अनाज

खप्पर में खाली कर दिया ।

धीरे-धीरे चलकर गुसांई गूल के किनारे तक गया, अपनी अंजुली से भर-भरकर उसने पानी पिया और फिर पास ही एक बंजर घट के अन्दर जाकर पीतल और अलमूनियम के कुछ बर्तन लेकर आग के निकट लौट आया ।

आस-पास पड़ी हुई सूखी लकड़ियों को बटोरकर उसने आग सुलगायी और एक कालिख पुती बटलोई में पानी रखकर जाते-जाते लछमा की ओर मुँह कर कह गया, 'चाय का टैम भी हो रहा है । पानी उबल जाय, तो पत्ती डाल देना, पुड़िया में पड़ी है ।'

लछमा ने कोई उत्तर नहीं दिया । वह उसे नदी की ओर जानेवाली पगडण्डी पर जाता हुआ देखती रही ।

सड़क किनारे की दूकान से दूध लेकर लौटते-लौटते गुसांई को काफी समय लग गया था । वापस आने पर उसने देखा, एक छः-सात वर्ष का बच्चा लछमा की देह से सटकर बैठा हुआ है ।

बच्चे का परिचय देने की इच्छा से जैसे लछमा ने कहा, 'इस छोकरे को घड़ी-भर के लिए भी चैन नहीं मिलता । जाने कैसे पूछता खोजता मेरी जान खाने को यहाँ भी पहुँच गया है ।'

गुसांई ने लक्ष्य किया कि बच्चा बार-बार उसकी दृष्टि बचाकर माँ से किसी चीज के लिए ज़िद कर रहा है । एक बार झुँझलाकर लछमा ने उसे झिड़क दिया, 'चुप रह ! अभी लौटकर घर जायँगे, इतनी-सी देर में मरा क्यों जा रहा है ?'

चाय के पानी में दूध डालकर गुसांई फिर उसी बंजर घट में गया । एक थाली में आटा लेकर वह गूल के किनारे बैठा-बैठा उसे गूँथने लगा । मिहल के पेड़ की ओर आते समय उसने साथ में दो-एक बर्तन और ले लिये ।

लछमा ने बटलोई में दूध-चीनी डालकर चाय तैयार कर दी थी। एक गिलास, एक एनेमल का मग और एक अलमूनियम के मैसटिन में गुसांई ने चाय ढालकर आपस में बाँट ली और पत्थरों से बने बेढंगे चूल्हे के पास बैठकर रोटियाँ बनाने का उपक्रम करने लगा।

हाथ का चाय का गिलास जमीन पर टिकाकर लछमा उठी। आटे की थाली अपनी ओर खिसकाकर उसने स्वयं रोटी पका देने की इच्छा ऐसे स्वर में प्रकट की कि गुसांई ना न कह सका। वह खड़ा-खड़ा उसे रोटी पकाते हुए देखता रहा। गोल-गोल डिबिया-सरीखी रोटियाँ चूल्हे में खिलने लगीं। वर्षों बाद गुसांई ने ऐसी रोटियाँ देखी थीं, जो अनिश्चित आकार की फौजी लंगर की चपातियों या स्वयं उसके हाथ से बनी बेडौल रोटियों से एकदम भिन्न थीं। आटे की लोई बनाते समय लछमा के छोटे-छोटे हाथ बड़ी तेज़ी से घूम रहे थे। कलाई में पहने हुये चाँदी के कड़े जब कभी आपस में टकरा जाते, तो खन्-खन् का एक अत्यन्त मधुर स्वर निकलता। चक्की के पाट पर टकरानेवाली काठ की चिड़ियों का स्वर कितना नीरस हो सकता है, यह गुसांई ने आज पहली बार अनुभव किया।

किसी काम से वह बंजर घट की ओर गया और बड़ी देर तक खाली बर्तन-डिब्बों को उठाता-रखता रहा।

वह लौटकर आया, तो लछमा रोटी बनाकर बर्तनों को समेट चुकी थी और अब आटे में सने हाथों को धो रही थी।

गुसांई ने बच्चे की ओर देखा। वह दोनों हाथों में चाय का मग थामे टकटकी लगाकर गुसांई को देखे जा रहा था। लछमा ने आग्रह के स्वर में कहा, 'चाय के साथ खानी हों, तो खा लो। फिर ठंडी हो जायँगी।'

'मैं तो अपने टैम से ही खाऊँगा। यह तो बच्चे के लिये....'

स्पष्ट कहने में उसे झिझक महसूस हो रही थी, जैसे बच्चे के सम्बन्ध में चिन्तित होने की उसकी चेष्टा अनाधिकार हो।

'न-न, जी! वह तो अभी घर से खाकर ही आ रहा है। मैं रोटियाँ बनाकर रख आयी थी' अत्यन्त संकोच के साथ लछमा ने आपत्ति प्रकट कर दी।

'अं ऽ ऽ, यों ही कहती है। कहाँ रखी थी रोटियाँ घर में?' बच्चे ने रुआँसी आवाज में वास्तविक स्थिति स्पष्ट कर दी। वह ध्यानपूर्वक अपनी माँ और इस अपरिचित व्यक्ति की बातें सुन रहा था और रोटियों को देखकर उसका संयम ढीला पड़ गया था।

'चुप!' आँखें तरेरकर लछमा ने उसे डाँट दिया। बच्चे के इस कथन के कारण उसकी स्थिति हास्यास्पद हो गयी थी, इस कारण लज्जा से उसका मुँह आरक्त हो उठा।

'बच्चा है, भूख लग आयी होगी, डाँटने से क्या फायदा?' गुसांई ने बच्चे का पक्ष लेकर दो रोटियाँ उसकी ओर बढ़ा दीं। परन्तु माँ की अनुमति के बिना उन्हें स्वीकारने का साहस बच्चे को नहीं हो रहा था। वह ललचायी दृष्टि से कभी रोटियों की ओर, कभी माँ की ओर देख लेता था।

गुसांई के बार-बार आग्रह करने पर भी बच्चा रोटियाँ लेने में संकोच करता रहा, तो लछमा ने उसे झिड़क दिया, 'मर! अब ले क्यों नहीं लेता? जहाँ जायगा, वहीं अपने लच्छन दिखायगा!'

इससे पहले कि बच्चा रोना शुरू कर दे, गुसांई ने रोटियों के ऊपर एक टुकड़ा गुड़ का रखकर बच्चे के हाथों में दे दिया। भरी-भरी आँखों से इस अनोखे मित्र को देखकर बच्चा चुपचाप रोटी खाने लगा। और गुसांई कौतुकपूर्ण दृष्टि से उसके हिलते हुए होंठों को देखता रहा।

इस छोटे-से प्रसंग के कारण वातावरण में एक तनाव-सा आ गया था, जिसे गुसांई और लछमा दोनों ही अनुभव कर रहे थे।

स्वयं भी एक रोटी को चाय में डुबाकर खाते-खाते गुसांई ने जैसे इस तनाव को कम करने की कोशिश में ही मुस्कराकर कहा, 'लोग ठीक ही कहते हैं, औरत के हाथ की बनी रोटियों में स्वाद ही दूसरा होता है।'

लछमा ने करुण दृष्टि से उसकी ओर देखा। गुसांई हो-हो कर खोखली हँसी हँस रहा था।

'कुछ साग-सब्जी होती, तो बेचारा एक-आधी रोटी और खा लेता' गुसांई ने बच्चे की ओर देखकर अपनी विवशता प्रकट की।

'ऐसी ही खाने-पीनेवाले की तकदीर लेकर पैदा हुआ होता, तो मेरे भाग क्यों पड़ता ? दो दिन से घर में तेल-नमक नहीं है। आज थोड़े पैसे मिले हैं, आज ले जाऊँगी कुछ सौदा।'

हाथ से अपनी जेब टटोलते हुये गुसांई ने संकोचपूर्ण स्वर में कहा, 'लछमा !'

लछमा ने जिज्ञासा से उसकी ओर देखा। गुसांई ने जेब से एक नोट निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुये कहा, 'ले, काम चलाने के लिए यह रख ले, मेरे पास अभी और है। परसों दफ्तर से मनीआर्डर आया था।'

'नहीं-नहीं, जी ! काम तो चल ही रहा है। मैं इस मतलब से थोड़े कह रही थी। यह तो बात में बात चली थी, तो मैंने कहा' कहकर लछमा ने सहायता लेने से इन्कार कर दिया।

गुसांई को लछमा का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। रूखी आवाज में वह बोला, 'दुःख-तकलीफ के वक्त ही आदमी-आदमी के काम नहीं आया, तो बेकार है। स्साला ! कितना कमाया, कितना

फूँका हमने इस ज़िन्दगी में। है कोई हिसाब ! पर क्या फायदा ! किसी के काम तो नहीं आया। इसमें अहसान की क्या बात है। पैसा तो मिट्टी है स्साला ! किसी के काम नहीं आया तो मिट्टी, एकदम मिट्टी !'

परन्तु गुसांई के इस तर्क के बावजूद भी लछमा अड़ी रही, बच्चे के सर पर हाथ फेरते हुये उसने दार्शनिक गम्भीरता से कहा, 'गंगनाथ दाहिने रहें, तो भले-बुरे दिन निभ ही जाते हैं, जी ! पेट का क्या है, घट के खप्पर की तरह जितना डालो, कम हो जाय। अपने-पराये प्रेम से हँस-बोल दें, तो वही बहुत है दिन काटने के लिये।'

गुसांई ने गौर से लछमा के मुख की ओर देखा। वर्षों पहले उठे हुये ज्वार और तूफान का वहाँ कोई चिह्न शेष नहीं था। अब वह सागर जैसे सीमाओं में बँधकर शान्त हो चुका था।

रुपया लेने के लिये लछमा से अधिक आग्रह करने का उसका साहस नहीं हुआ। पर गहरे असन्तोष के कारण बुझा-बुझा सा वह धीमी चाल से चलकर वहाँ से हट गया। सहसा उसकी चाल तेज हो गयी और घट के अन्दर जाकर उसने एक बार शंकित दृष्टि से बाहर की ओर देखा। लछमा उस ओर पीठ किये बैठी थी। उसने जल्दी-जल्दी अपने निजी आटे के टिन से दो-ढाई सेर के करीब आटा निकालकर लछमा के आटे में मिला दिया और सन्तोष की एक साँस लेकर वह हाथ झाड़ता हुआ बाहर आकर बाँध की ओर देखने लगा। ऊपर बाँध पर किसी को घूमते हुये देखकर उसने हाँक दी। शायद खेत की सिंचाई के लिये कोई पानी तोड़ना चाहता था।

बाँध की ओर जाने से पहले वह एक बार लछमा के निकट गया। पिसान पिस जाने की सूचना उसे देकर वह वापस लौटते हुये फिर ठिठककर खड़ा हो गया, मन की बात कहने में जैसे उसे झिझक हो रही हो। अटक-अटककर वह बोला, 'लछमा....!

लछमा ने सर उठाकर उसकी ओर देखा। गुसांई को चुपचाप अपनी ओर देखते हुये उसे संकोच होने लगा। वह न जाने क्या कहना चाहता है, इस बात की आशंका से उसके मुँह का रंग अचानक फीका होने लगा। पर गुसांई ने झिझकते हुये केवल इतना ही कहा, 'कभी चार पैसे जुड़ जायँ, तो गङ्गनाथ का जागर लगाकर भूल-चूक की माफी माँग लेना। पूत-परिवार वालों को देवी-देवता के कोप से बचा रहना चाहिये' लछमा की बात सुनने के लिये वह नहीं रुका।

पानी तोड़ने वाले खेतिहर से झगड़ा निपटाकर कुछ देर बाद लौटते हुये उसने देखा, सामनेवाले पहाड़ की पगडंडी पर सर पर आटा लिये लछमा अपने बच्चे के साथ धीरे-धीरे चली जा रही थी। वह उन्हें पहाड़ी के मोड़ तक पहुँचने तक टकटकी बाँधे देखता रहा।

घट के अन्दर काठ की चिड़ियाँ अब भी किट-किट आवाज कर रही थीं, चक्की का पाट खिस्सर-खिस्सर चल रहा था और मथानी की पानी काटने की आवाज आ रही थी, और कहीं कोई स्वर नहीं, सब सुनसान, निस्तब्ध !

जी-हजूरिया

नाम है जी हजूरिया।

विचित्र नाम !

साठ-बासठ साल की उम्र। दन्तविहीन पोपला मुँह, चेहरे और बाँहों में छोटे-छोटे सफेद बाल, ठिगना कद, झुकी हुई कमर और पीठ के कूबड़ के कारण झुके कन्धे जो मानो उसकी शाश्वत विनयशीलता का परिचय दे रहे हों।

कैण्टीन या कारखाने में अक्सर इधर-उधर जी हजूरिया का नाम सुनायी दे जाता है। पहली बार सुनने पर नाम विचित्र लगता है, अवश्य। परन्तु किसी पुराने आदमी के सामने अपना विस्मय प्रकट करने पर रहस्य खुल जायेगा....

'यह तो इसकी करनी का परसाद है भइया नहीं तो कहीं माँ-बाप ऐसा नाम देते हैं? असली नाम तो साले का कुछ और ही है। चापलूस

साला !' कहने वाला वितृष्णा से अपना मुँह बिचका लेगा।

हाँ, असली नाम कुछ और ही है। 'पे—डे' पर सुनाई देता है—महीने में केवल एक दिन के लिये। पर उसका यह असली नाम भी उसके लिये पराया हो गया है जैसे।

टिकट नम्बर चार सौ आठ गनपतलाल !

गनपतलाल !!

इस बार साहब का चपरासी भी दरवाज़े से बाहर निकल कर चिल्ला उठता है, 'ओ ए, जी-हजूरिया ! सुनता नहीं, साहब आवाज दे रहे हैं, कब से।'

स्वयं चौंक उठता है जी-हजूरिया। खिसियाना सा मुस्कराने का प्रयास कर चपरासी की ठोड़ी छू कर कहता है, 'आवत हैं भइया, काहे गरमात हो।'

समूह में बैठे वेतन लेने वाले कारीगरों के होठों पर एक उपेक्षापूर्ण हँसी खिल उठती है।

'देखो, देखो साले को, चपरासी को कैसे मक्खन लगा रहा है।'

'अरे इसकी मत कहो, अभी देखना साहब के आगे जा कर कैसे पूँछ हिलाता है।'

दस-दस रुपये के नये नोटों की गड्डी में से साहब रजिस्टर में नाम के आगे लिखी हुई वेतन की राशि देख कर गिन रहे हैं—

वन टू-थ्री-फोर....।

सिर थोड़ा और भी नीचे, घुटनों तक झुका, हाथ कपाल पर लगा कर 'जी-हजूरिया' अपने आगमन की सूचना दे देता है....'सलाम माई-बाप !'

ध्यान बट जाने के कारण साहब गड़बड़ा जाते हैं 'जी-हजूरिया' की ओर देखे बिना ही स्पन्ज में अंगुलियाँ भिगा कर फिर गिनना शुरू कर

देते हैं—

'वन टू-थ्री-फोर....'

'सलाम हजूर !'

इस बार जी-हजूरिया अपना स्वर अपेक्षाकृत ऊँचा कर लेता है। रुपये-पैसे का हिसाब, साहब फिर गड़बड़ा जाते हैं, जी हजूरिया की ओर झल्ला कर देखते हुए भुनभुनाते हैं....

'सुन लिया'

जी-हजूरिया जैसे कृतार्थ हो गया हो। अपने धनुषाकार कुबड़े शरीर को थोड़ा सीधा कर अभ्यस्त खिसियानी मुस्कान होठों पर ला कर मेज पर फैले हुए रुपयों की ओर ललचायी दृष्टि से एकटक देखता धीरे-धीरे सिर हिलाने लगता है।

'सेवेण्टी नाइन ट्वेल्व अनाज' अन्तिम बार गिन कर साहब हेडक्लर्क की ओर रकम बढ़ा देते हैं....दुबारा गिन देने के लिये।

हेडक्लर्क के हाथों से वेतन ले कर जी-हजूरिया मिमियाने लगता है, 'हजूर, चार आना कमती....'पूरी बात कहने का साहस नहीं है उसमें।

'लेट तो नहीं थे किसी दिन?' रजिस्टर में हाज़िरी पर नज़र डाल कर साहब पूछते हैं।

'नहीं मालिक' शंकित मन से हजूरिया लेट न होने की बात कह जाता है। इस बुढ़ापे में अब हजूरिया से दौड़-धूप नहीं हो पाती। सुबह घर से निकलते-निकलते दो-चार मिनट देर हो ही जाती है। हफ्ते में एक-दो दिन हजूरिया अवश्य लेट हो जाता है पर मात्र इस कारण कभी उस के वेतन में कटौती न होगी, इस का उसे पूरा विश्वास है।

लेट-मार्क की लाल स्याही कटा लेने का उस का अपना ढंग है। टाइम-कीपर बाल-बच्चे वाले आदमी हैं। फल-फूल के मौसम में एक-दो अमरूद, छोटा-मोटा खरबूज या ककड़ी या चटनी के लिये कच्ची

अमियाँ किसी भी एक चीज़ का जुगाड़ कर लेना कठिन नहीं। टाइमकीपर की मेज पर ऐसी ही कोई सौगात रख कर हजूरिया गिड़गिड़ाता है, 'माई-बाप! आज जरा बिटिया बीमार रही इसीलिये'.... मेज़ के और भी अधिक निकट आ, टाइम कीपर के घुटनों में हाथ छुआ कर हजूरिया आश्वस्त भाव से लौट जाता है। इसी विश्वास के बल पर वह साहब से लेट न होने की बात कह देता है।

'वैलफेयर फण्ड के लिये चवन्नी कटी है तुम्हारी' हेडक्लर्क समझा देता है।

चवन्नी काटे जाने का दुख होने पर भी हजूरिया विरोध नहीं करता और 'अच्छा मालिक' कह कर जाते-जाते फिर एक बार हाथ माथे तक ले जा कर साहब को सलाम करने का लोभ नहीं सम्हाल पाता। पर द्वार तक पहुँचने से पहिले फिर एक बार मुड़ कर हेडक्लर्क को भी सलाम दे कर झुकी हुई कमर लिये वह लौट जाता है।

दरवाजे से बाहर दालान में बैठे हुए लोगों की कानाफूसी हुजूरिया के ही सम्बन्ध में चलने लगती है....

'चवन्नी कट गयी बेटा की, अब जानते हो क्या करेगा? यहीं कहीं से एक-दो फूल तोड़ कर दफ्तर में पण्डित बाबू के पास जा कर कहेगा.... मालिक, सुबह आप के लिये मन्दिर से फूल-परसादी लाया था, लीजिये सर पर रख दूँ....पण्डित बाबू धरम-करम वाले आदमी हैं, परसादी के नाम पर नरम पड़ जायेंगे, तो पूछेगा....मालिक, एक चवन्नी कट गयी अब हर महीना कटी का?'

'लेकिन एक बात है भाई, मेहता साहब के आगे इस की एक नहीं चलती' कोई एक अपना मत प्रकट करता है।

'अरे गुरू! बड़ा चाँई आदमी है, इसने मेहता साहब को भी पटा लिया। जानते हो कैसे? मेहता साहब की जार्ज साहब से नहीं पटती।

इसने मेहता साहब से जार्ज साहब की बुराई कर-कर के उन पर भी जादू फेर दिया है। तुम्हें याद नहीं, वो उस दिन जार्ज साहब की गाड़ी का टायर अन्दर रिपेयर हो रहा था इसने जा कर खबर कर दी मेहता साहब को। उन्होंने बड़े साहब तक बात पहुँचा दी। लगाई-बुझाई में बड़ा तेज है। और मजे की बात देखो, जार्ज साहब को भी खुश किये हुए है....'

'तुमने एक खास आदत देखी इसकी' वैल्डर जैनारायण ने, जो कुछ ही दिन पहले वर्कशाप में आया था और अपनी शौकीन तबियत और निराली चाल-ढाल के कारण 'हीरो' नाम से मशहूर हो गया था, बिना किसी व्यक्ति विशेष की ओर लक्ष्य किये बात जोड़ी, 'वर्कशाप में किसी नये आदमी को अच्छे कपड़े पहने देख लेगा तो एक बार जरूर झुक कर सलाम ठोंकेगा शायद सोचता हो कि कोई नया अफसर-वफसर हो। पहले दिन मैं आया था तो ये मुझे भी बड़ी चापलूसी से सलाम करने लगा....' हीरो की बात में आत्मविज्ञापन ही अधिक था इस कारण एक अन्य नौजवान ने खीझ कर बात काट दी—

'अफसर भी तो साले सब लचर हैं, होता कोई रोबीला आदमी तो दो दिन में निकाल बाहर करता। कामचोर कहीं का!'

'भइया, वो ऐसे अफसर के लिये भी कोई-न-कोई टटका ढूँढ लेगा' हजूरिया की मशीन के पास काम करने वाले फिटर ने अपना आक्रोश प्रकट किया, 'खुद बड़े साहब इससे बेहद खुश हैं। छुट्टी के टाइम पर हम सब लोग तो दो-चार मिनट पहले चोरी-छिपे हाथ मुँह धो लेते हैं और यह ससुरा छुट्टी की सीटी से ठीक दस मिनट पहले अपना काम शुरू करता है और सीटी होने के बाद तक मशीन चालू रखता है। एक दिन साहब राउण्ड पर निकले तो और लोगों पर तो कड़ी झाड़ पड़ी पर साहब इसकी पीठ ठोंक गये। उन्हें यह तो पता नहीं कि साला दिन

भर तो कामचोरी करता है—दस बार बीड़ी पीने जायेगा, दस बार पानी पीने, दस बार टट्टी तो दस बार पेशाब।'

'इतना बुजुर्ग आदमी है कोई शिकायत भी क्या करे! अपने बाप-दादा की उमर का होगा।'

हजूरिया कमर झुका कर, दोनों हाथ झुलाता हुआ पण्डित बाबू के दफ्तर से निकल कर जा रहा था कि किसी ने टोका, 'ए हजूरिया, सुनो जी! अब तो तुम्हारे गंगा किनारे बैठकर राम नाम जपने के दिन हैं, दो-चार साल की और जिन्दगी है कुछ अगले जनम की भी चिन्ता कर लो।'

'अभी इसे दस साल तक कुछ नहीं होता भइया, जितनी चिकनाई इस खबीस की बातों में है उतनी ही इसकी हड्डियों में भी' एक कारीगर ने धीमे से फुसफुसाहट की।

'मरता तो दुनिया का जंजाल कटता' उसके पास बैठे हुए दूसरे व्यक्ति ने भी वैसी ही फुसफुसाहट में अपना मत प्रकट किया।

हजूरिया की हड्डियों की चिकनाई ने सचमुच हो उसे मरने नहीं दिया। लेकिन अचानक ही मर गया छोटेलाल।

बहुत दिनों से दमे की बीमारी ने उसे दबा रखा था। रात में एक बार आँगन में रखने की हालत हो गयी थी पर फिर साँस लौट आयी। सुबह कैण्टीन में जो भी आता छोटेलाल की ही बात उसके मुँह से सुनायी पड़ती। हजूरिया सब की बातें सुन रहा था पर छोटेलाल के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ कहने को उसका मन गवाही नहीं दे रहा था। एक अज्ञात भय के कारण वह बार-बार मृत्यु की इस चर्चा को अनसुनी कर देना चाहता था। पर कल्लू ने जैसे दुखती रग पर हाथ रख दिया। आस-पास जमा हुए कारीगरों कोसुना कर ऊँचे स्वर में वह बोला, 'जमराज की कापी में अभी छोटेलाल का लम्बर नहीं है, भाई,

छोटुआ बच जायगा। अभी तो लिस्ट में उससे ऊपर हजूरिया दादा का नाम चढ़ा हुआ है।'

उदासी के क्षणों में भी लोग अपनी हँसी नहीं रोक पाये।

किसी तरह कैण्टीन की भीड़ से बच-निकल कर हजूरिया अपनी मशीन पर लौट आया। कल्लू ने ठीक ही कहा था—छोटेलाल से पहले उसका ही नम्बर है, अगर उमर के हिसाब से देखा जाय। पिछले ही महीने एक दिन दोनों ने अपनी-अपनी उम्र का हिसाब लगाया था, हजूरिया छोटेलाल से दो साल बड़ा निकला। मृत्यु की कल्पना से एकबारगी सिहर उठा हजूरिया। केवल अपने ही प्राणों का मोह नहीं, बुढ़ौती में ब्याह करने के कारण एक अभागिन और दो नन्हें-मुन्हें अनाथों का शोक भी जैसे उस सिहरन का कारण था। आस-पास की मशीनों के शोरगुल में हजूरिया को जैसे इसी आसन्न महायात्रा की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ने लगी। हजूरिया का स्वप्न टूटा। अचानक मशीनों की आवाज रुक गयी थी।

सिर झुकाये, धीमी चाल से चलते कारीगर छुट-पुट या दो-दो तीन-तीन के समूह में कैण्टीन की ओर चले जा रहे थे। छोटेलाल की मृत्यु का समाचार ले कर जो व्यक्ति आया था वह कैण्टीन में ही बैठा हुआ था। हजूरिया का मन हुआ कि वह कहीं एकान्त में जा कर चुपचाप बैठा रहे पर तभी एक कारीगर ने आकर उसकी पीठ पर हाथ रख कर धीमे, उदास स्वर में कहा, 'चलो, छोटुवा तो चल दिया क्या बतायें! उसका पड़ोसी आया है। घर में कफ़न के लिये भी पैसा नहीं है, दफ्तर से कुछ मिल जाय तो ले चलें।'

हजूरिया को उसके साथ जाना ही पड़ा। कैण्टीन में एकत्रित कारीगरों के बीच छोटेलाल की ही बातें चल रही थीं। हँस-बोल कर, लड़-झगड़ कर अपने जीवन का सुदीर्घ भाग जो उन लोगों के बीच

बिता गया था, आज उसकी कोई भी बुरी बात उन्हें याद नहीं आ रही थी। किसी ने सांस खींचकर कहा, 'उसके घर वालों की नैय्या कैसे पार लगेगी, भाई, बच्चे ही कमाने-धमाने लायक हो जाते तो कोई दुःख नहीं होता। एक दिन तो मौत होनी ही है पर भगवान ऐसी मौत किसी को न दे।'

हजूरिया के पांवों में खड़े होने की शक्ति नहीं रही।

छोटे साहब फरियाद सुनने के लिये आये। छोटेलाल की मृत्यु का दुःख उन्हें कम नहीं हुआ है यह उन्होंने अपनी बातों से प्रकट कर दिया। परन्तु क्रिया-कर्म के लिये किसी फण्ड से रुपया दिला देने की बात चली तो उन्होंने अपनी असमर्थता जतला दी—

'वैलफेयर फण्ड के रुपयों में से किसी को देना दिलाना मेरे हाथ की बात नहीं है' उन्होंने माथे पर बल डाल कर कहा 'बड़े साहब ही इस मामले में कुछ कर सकते हैं।'

'साहब, आज वे नहीं आये हैं वरना आपको तकलीफ ही नहीं देते। आप चाहें तो कुछ-न-कुछ कर ही सकते हैं' एक कारीगर ने समूह में से आगे बढ़ कर कहा।

'भई, तुम नहीं समझते, हमें क्या एतराज़ हो सकता है ? पर यह अपने बस की बात तो कुछ है नहीं।' साहब बोले।

'कैण्टीन-फण्ड का रुपया तो आपके ही पास है साहब ! उसी में से कुछ दे दिला दीजिये। जाने वाले की औरत बेचारी कहाँ से पैसे लायेगी ?' एक अधेड़ उम्र के कारीगर ने अनुनय की।

जेब से रूमाल निकाल कर साहब माथे का पसीना पोंछने लगे।

कुछ कहने के लिये हजूरिया भी मन ही मन तैयारी करने लगा। छोटेलाल की अर्थी के आस-पास बिलखते बच्चों की कल्पना करते-करते उसे लगा जैसे उसके ही बच्चे बिलख रहे हों। वह कुछ भी नहीं कह सका।

कैण्टीन-फण्ड के सुझाव को सुनकर साहब चिन्ता में पड़ गये। कोई तरकीब न देख कर उन्होंने इधर-उधर देखा, मेज पर टिकाया हुआ हाथ उठा कर व्यर्थ ही उलटा-पलटा। हाथ में मेज पर फैली हुई धूल चिपक गयी थी उसे रूमाल से पोंछा। पास ही जी-हजूरिया खड़ा था। साहब के हाथ में लगी हुई धूल देख कर उसने जेब से कपड़ा निकाल कर मेज पोंछना शुरू कर दिया।

एक नौजवान कारीगर को हजूरिया की यह चापलूसी अच्छी न लगी। जानबूझ कर उसे धकेलता हुआ वह आगे बढ़ आया।

'कैण्टीन-फण्ड हमारे हाथ में है लेकिन उसका रुपया हम ऐसे कामों में कैसे दे दें? कल किसी और काम के लिये जरूरत पड़ेगी तो फिर यही बात उठ खड़ी होगी। वह रुपया आप लोगों के चाय-पानी के इन्तजाम के लिये रखा गया है हम ऐसे नहीं दे सकते, मुश्किल है।' साहब ने दोनों हाथ खोलकर अपनी असमर्थता प्रकट कर दी।

'इतना बुजुर्ग आदमी होकर भी कैसी बेवकूफी की बात करता है!' एक कारीगर होठों-ही-होठों में बुदबुदाया।

जाते-जाते साहब फिर बोले, 'आप लोग चन्दा कर लीजिये, दो-दो चार-चार आना भी एक आदमी दे तो काम हो जायेगा। बल्कि मैं तो कहूंगा कि आप लोगों को हर महीने कुछ-न-कुछ चन्दा करके जोड़ रखना चाहिये। कब किसके लिये जरूरत पड़ जाये!'

जी-हजूरिया इस बार अपना आक्रोश नहीं सम्हाल पाया, खखार कर बोला, 'आप ठीक कहते हैं माई-बाप! अब हम हर महीने तनखा के दिन चन्दा कर लेंगे। हुजूर, भगवान करे उससे सबसे पहले आपकी ही सेवा करने का हमें मौका मिले।'

भीड़ के शोर-गुल में हजूरिया की पूरी बात सुनायी नहीं दी। और लोगों ने सोचा कि इस बार भी हजूरिया ने कोई गहरी चापलूसी की ही बात कही है। घृणा से उसकी ओर देखकर वे लोग फिर अपनी बातों में लग गये।

*

पद्मा की कहानी

अन्तिम क्षण तक अनिश्चय की स्थिति में काउन्टर पर खड़ा रहा। शायद लौट भी आता परन्तु तभी क्लर्क ने पेंन्सिल उठा कर रसीद लिखना शुरू कर दिया था।

'तीस रुपया सात आना'

मनीआर्डर के पैसे चुकता कर, रसीद जेब में लिये लौट आया हूँ। कहानी का अग्रिम पारिश्रमिक था। लेकिन कहानी नहीं लिखी गयी। जैसा अक्सर हो जाता है वैसी कोई बात इस बार नहीं थी—समयाभाव भी नहीं, कथानक की कमी भी नहीं। पद्मा साह को ले कर जो प्लाट अक्सर दिमाग में चक्कर काटता रहा था उसे अच्छी कहानी की शक्ल तो दे ही सकता था। प्रमोद कृतज्ञ हो जाता। परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी प्रमोद को तीस रुपये लौटा आया हूँ।

*

शायद उसका पत्र फिर आये। इस कहानी के कारण ही वह शायद अपनी पत्रिका का विशेषांक कुछ और दिनों के लिये रोक लेगा। पर तब भी क्या वह कहानी लिख कर उसे भेज पाऊँगा?

आधुनिक ढंग से बसा हुआ छोटा-सा पहाड़ी कस्बा। पहाड़ों में ऊँचाई पर बने हुए बीस-पचीस बँगले और नीचे घाटी में छोटे-छोटे रेस्त्राँ, चायघरों, और अँगरेजी ढंग की दूकानों से भरा छोटा-सा बाज़ार, छोटी फल की मंडी और एक ओर मोटर स्टेशन। गर्मियों में तीन-चार महीने सैलानियों और छुट्टियों में घर लौटे विद्यार्थियों के झुण्ड केवल इतनी-सी परिधि में चक्कर काटते रहते हैं। सीजन की समाप्ति पर फिर वर्ष के शेष भाग में कुहरा और हिम से ढकी हुई घाटी में आग तापते, हुक्का गुड़गुड़ाते, मोटी ऊनी चादर में लिपटे लोगों की बातचीत का विषय बन जाता है इन्हीं सैलानियों में से किसी की चाल-ढाल, किसी नवाब या रईस के कुत्तों का झुण्ड या किसी सैलानी का स्कैण्डल।

पर इस साल शायद अलग-अलग घरों में, आग के चारों ओर, मूगफलियाँ तोड़ते, हुक्का गुड़गुड़ाते लोगों की बातचीत फिर-फिर साह-परिवार पर केन्द्रित हो जायगी। बाज़ार के पिछवाड़े एक कोने-से दूसरे कोने तक फैले हुए घरों में कोई भी नहीं भूला होगा इस प्रसंग को। घूम-फिर कर फिर बात वहीं आ जायगी—पद्मा साह, उमा साह और हीरो किरणकुमार....

बाज़ार के मध्य, सड़क के एक ओर तिमंजिला मकान है। निचली मंजिल में आधुनिक ढंग से सजी हुई दूकान का साइनबोर्ड—हरिहर वूल स्टोर्स— हरिहर साहजी का अस्तित्व जतला देता है। ऊपर की मंजिल में खिड़कियों से होकर जो हँसी की खिलखिलाहट कभी-कभार मकान के सामने, शम्भू की पान की दूकान पर खड़े हुए लोगों को सुनायी दे जाती है वह उमा साह की ही हँसी है। पद्मा साह की खिलखिलाहट किसी ने कभी नहीं सुनी।

उस दिन पहली बार ऐसी ही खिलखिलाहट सुन कर अनायास ही मैंने ऊपर की ओर आँखें उठायी थीं—शम्भू क्षण भर के लिये पान पर चूनां लगाना भूल गया था। प्रमोद ने मेरे कन्धे पर हाथ रख कर बनावटी गम्भीरता से कहा,'पहिले हीरो, फिर साइड हीरो, फिर म्युजिक डाइरेक्टर, फिर कैमरामैन और तब कहीं स्टोरी-राइटर का नम्बर आता है डियर!'

'शम्भू ही नहीं साथ में खड़े और भी दो-तीन लोग खिलखिला कर हस पड़े थे। मैं इस व्यंग को नहीं समझा।

बात उसी रहस्यमय ढंग से चलने लगी थी, शम्भू बड़ी लाचारी से बोला, 'अब क्या हँसी है, प्रमोद बाबू! उन दिनों सुनते इसकी खिलखिलाहट! साला हीरो घण्टों जमा रहता था इनकी बैठक में और यह दिन भर चहकती रहती थी।'

'शम्भू डियर! मज़ाक नहीं, इस बहाने तुम्हारी दूकान पर बिक्री खूब बढ़ी होगी उन दिनों' प्रमोद ने हँसी रोक कर पूछा।

'मत पूछिये, प्रमोद बाबू! हमारे अपने पुराने ग्राहक टूट गये। इसी दो-चित्ते में एक दिन वो बेकरी वाले मुल्लाजी के पान में कत्था लगाना भूल गया था, तब से भले आदमी इधर का रुख ही नहीं करते' शम्भू ने सफाई दी।

'तुम भी हीरो बनने की धुन में थे क्या-ऽ-ऽ?' कह कर प्रमोद ठहाका मार कर हँस पड़ा।

'अरे साहब, हम क्या हीरो बनेंगे। सब को गोद में ले कर खिलाया है। इत्ती-इत्ती-सी थीं! अपनी औकात को कोई भूल जाय तो उससे क्या बात करें। हमारी तो बोल-चाल भी बन्द है। अपनी कमला की उम्र की है बड़ी। शादी हुई-होती तो अब तक चार बच्चों की माँ होती पर वह बुड्ढा क्यों करेगा उसकी शादी? वह तो इस पहाड़ी इलाके में लेडी डाक्टर की कमी पूरी करेगी न!'

तभी दुमंजिले की खिड़की खुली। बाल बनाते हुए टूटे बालों का एक गुच्छा बाहर फेंकने के लिये एक संगमर्मरी हाथ बाहर निकला। मुँह और कन्धे पर फैले हुए बालों के कारण मैं उस नारी आकृति को ठीक से नहीं देख पाया।

'बड़ी है ?' प्रश्नवाचक दृष्टि से प्रमोद ने शम्भू की ओर देखा।

'हूँ' आँखें नीची किये हुए ही शम्भू ने हामी भर दी। भारी-भरकम देह लिये हरिहर साह सीढ़ियाँ उतर कर दुकान के अन्दर चले गये।

एक दूसरे के कन्धों पर हाथ रखे हुए तीन-चार कम उम्र के छोकरों का झुण्ड सामने से निकल गया। उन्हीं में से एक छोकरे ने खिड़की की ओर मुँह उठाकर जरा ऊँचे स्वर में नाटकीय ढंग से कहा, 'रोओ मत, रोओ मत, सितम्बर में मैं फिर आऊँगा।'

और मुँह पर हाथ रख, उमड़ती हुई हँसी रोकते हुए वे लोग तेजी से आगे बढ़ गये।

दुमंजिले की खिड़की खटाक से बन्द हो गयी। 'बड़े शैतान हो गये हैं छोकरे ! उस ने सुन लिया होगा, देखा नहीं कितनी जोर से खिड़की बन्द की है !' प्रमोद ने धीमें स्वर में कहा। साह जी तकिये से लग कर बैठे हुए हमारी ओर तीखी नज़रों से देखे जा रहे थे।

'सुना क्यों नहीं होगा ! छोकरे तो मुँह पर ही ऊल-जलूल बक जाते हैं। उन्हें किस के बाप का डर पड़ा है ?' शम्भू भी धीमी आवाज़ में बोला।

'हाँ, सुनो ! हीरो ने छोटी के साथ ही शूटिंग की या इसे भी रिहर्सल करने का चान्स दिया ?' एक आँख दबा कर प्रमोद रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्कराया। एक लोफर किस्म का नवयुवक जो कुछ देर पहले ही आ कर शम्भू की दूकान पर बैठा था अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिये उतावला हो उठा, 'ये, अजी प्रमोद बाबू, ये तो गेटकीपर थीं।....पहले इसे टिकट दो, तो फिर अन्दर पिक्चर का मज़ा लो....चौबीसों घण्टे

छोटी के पीछे लगी रहती थी। इसे खुश किये बिना हीरो की क्या बिसात थी जो छोटी से मिल पाता। आप तो रिहर्सल कह रहे हैं। वह साला 'गोल्डन' जुबली' मना गया होगा। देख लेना आठ-नौ महीने बाद अगर 'अकेडमी अवार्ड' लाकर बुड्ढे की गोद में न रख दे तो! लेकिन साली है बड़ी घाघ!....मेडिकल में पढ़ती है न?' उस के इस विस्तृत ज्ञान और रिश्तेदारी के सम्बोधन से चकित हो हमारी आँखें उसकी ओर लगी रहीं।

इधर-उधर सुनी हुई बातों के बिखरे सूत्रों को मैं एक-दो दिन में जोड़ पाया....

हरिहर साह केवल ऊन के ही व्यापारी नहीं हैं। कस्बे में ऊँचाई पर इधर-उधर बने हुए बँगलों में दो-तीन बँगले उनके निजी हैं। सीजन में जब सभी हिल स्टेशन सैलानियों से भर जाते हैं तब इनका भी उपयोग होता है। साल भर का किराया ले कर साग-भाजी तक की व्यवस्था अपने किरायेदारों के लिये कर देने में साह जी पटु हैं—लेकिन कुछ साल पूर्व दो अँग्रेज परिवारों के चले जाने के कारण प्रमोद के पिता 'एडीटर जी' भी दो बँगलों के मालिक हो गये हैं। पिछली बार सीजन में टूरिस्टों को अपने-अपने बँगलों में खींचने की प्रतिद्वन्दिता खूब रही थी। इस साल भी यही होता पर एक आकस्मिक घटना हो गयी। गर्मियों से दो माह पूर्व ही एक फिल्म कम्पनी का एजेन्ट कस्बे में आ पहुँचा। 'मधुयामिनी' की आउटडोर शूटिंग के लिये कम्पनी पूरी पार्टी के साथ वहाँ आ रही थी। रहने की व्यवस्था करने के लिये ही एजेन्ट आया था। एडीटर जी ने बाज़ी मार ली, हरिहर साह देखते ही रह गये। केवल पन्द्रह-बीस दिन के लिये दोनों बँगले हजार रुपये पर उठ रहे थे। शम्भू की दूकान पर चार बीड़े पान मुँह में रख कर पान की पीक 'हरिहर वूल स्टोर' की ओर थूकते हुए एडीटर जी ने ऊँचे स्वर में

कमेटी के जमादार से कहा था, 'अड़े जौमादाड़ जड़ा बंगलों की शफाई कड़ा डेना— फिड़म कँम्पड़ी वाड़े आ ड़हे हैं।'

अपनी दूकान पर बैठे हुए हरिहर साह यह सुन कर जलभुन गये; पर उतावली करने का मौका नहीं था।

दूसरे दिन हरिहर साह के किसी आदमी ने कम्पनी के एजेन्ट से मुस्करा कर पूछा, 'सुनते हैं, मनीजर साहब! बँगलों का इन्तंजाम आपने कर लिया है लेकिन फर्नीचर क्या कम्पनी बम्बई से ही लायगी?'

'नहीं, ऐसा क्यों? लैण्डलॉर्ड देगा।' एजेन्ट ने पूरे विश्वास के साथ कहा।

'हाँ-ऽ-ऽ ठीक ही है। आप यहाँ से वापस जाने से पहले ज़रा पलंग की निवाड़ उलटा कर देख लीजियेगा।' होंठ काट कर हरिहर साह का आदमी जाने का अभिनय करने लगा।

'क्यों, क्यों सुनिये क्या बात?' बम्बइया एजेन्ट का सिर चकरा गया।

'कुछ नहीं, कुछ नहीं साहब! एडीटर जी का फ़र्नीचर जरा मशहूर है, अब हम किसी के क्यों बुरे बनें?....पिछले महीने ही एक बारात के लिये किराये पर चढ़ा था तो बराती लोगों ने फ़र्श पर दरी बिछा कर संगीत गोष्ठी कर के सारी रात काटी थी। आप लोगों के साथ तो बड़े-बड़े गवैये होंगे और भी अच्छी जमेगी संगीत गोष्ठी!' मुस्करा कर वह चला गया।

टूरिस्टों की प्रतीक्षा में फर्नीचर में दुबके हुए खटमलों से जिस व्यक्ति का पहली बार साक्षात्कार हुआ वह बम्बइया एजेन्ट था!

डी० डी० टी० से सफाई करा देने की दुहाई भी निष्फल रही। एडीटर जी मुँह लटका कर लौट आये। शम्भू का पान खाने का आग्रह भी उन्हें टालना पड़ा; दाँत में दर्द था!

एडीटर जी के घर के सामने वाली दूकान पर खड़े-खड़े हरिहर साह ने ऊँचे स्वर में कहा, 'मनोरथ, पान जल्दी बनाना भइय्या, ऊपर बँगलों को खोल कर सफाई करानी है। फिल्म कम्पनी वाले आ रहे हैं।'

चाय की टेबल पर प्रमोद और उसके दो-तीन अन्तरंग मित्रों की बात-चीत सुनी....

'हम तो पहले ही दिन ताड़ गये थे। किरणकुमार की आँखें छोटी पर ही लगी थीं और बड़ी यह देख कर जलभुन कर खाक हो रही थी! वो भी समझ गया होगा कि बेटा इसे खुश किये बिना बात नहीं बनेगी। फिर तो जहाँ देखो वहाँ किरणकुमार हैं और पद्मा साह हैं....उमा साह हैं....कहाँ जा रहे हैं?—शूटिंग देखने....।'

'जानते हो हमारी सिस्टर से उमा क्या कह रही थी: अगली पिक्चर में किरणकुमार अपने साथ उसे हीरोइन बनायेगा!'

'उससे कहो साइड हीरो का रोल अपने बाप को दिलवा दे।'

'उसका बाप तो एक दिन मनोरथ की दुकान पर कह रहा था—मैंने कोई चरित्रवान् पुरुष देखा है तो किरणकुमार देखा! एकदम मर्यादा पुरुषोत्तम राम की तरह है; कभी जो उसकी आँख में मैल आ जाय तो कहो—और यार! इतना बेशरम आदमी कि कहता था मैं तो उसका फोटो अपने पूजा घर में लगाऊँगा। अरे बड़ा मज़ाक रहा! वो पाण्डे जी का महेन्द्र है न—बनारस यूनिवर्सिटी वाला—वो बोला, साहजी मेरे पास उसका एक बड़ी साइज़ का फोटो है, स्विमिंग सूट में, आप कहें तो फ्रेम करा कर दे दूँ। हनुमान जी की बगल में खूब मैच करेगा।—हा! हा! हा!....'

'तुम यकीन नहीं करोगे। रात में ग्यारह-ग्यारह बजे किरणकुमार का ड्राइवर इन्हें घर छोड़ जाता था 'डेड-स्लो-स्पीड' में, लाइट बुझा कर कि कहीं कोई देख न ले। बाप भी अक्सर कहीं दावतों में

जमा रहता था देर तक !'

'तुम्हें नहीं मालूम, दोनों बहिनों में लड़ाई हो गयी थी। बड़ी चाहती थी छोटी हीरो के साथ न जाय लेकिन वह बाप की शह पा कर चल देती थी। इश्क में साझा नहीं होता; लड़ाई होनी थी फिर। सौतिया डाह हो गया दोनों को !'

'छोटी बड़ी चन्ट निकली, यार ! अभो तो इसे शहर की हवा भी नहीं लगी।'

'बाबू ! ये वो आतिश है जो जलाये न जले, जो बुझाये न बुझे ....क्या समझे ?'

'एक दिन क्या हुआ, किरणकुमार ड्राइवर की सीट पर बैठा था, छोटी उस की बगल में बैठने की तैयारी कर रही थी कि पन्ना उचक कर आयी और अगली सीट पर बैठ गयी। रियली भाई, देखने लायक सीन था ! छोटी एकदम रुआँसी हो गयी....'

बात काटता हुआ प्रमोद आग्रहपूर्ण स्वर में बोला, 'सुनो कुमार, पन्ना साह जैसा कैरेक्टर तुम्हें कहीं नहीं मिलेगा इस पर कहानी जरूर लिखना।'

'बेटा, डिफेमेशन का केस दायर कर देगा उसका बाप। क्यों कुमार बाबू के गले आफ़त मढ़ रहे हो ?' एक मित्र ने बात काट दी।

'नाम बदले जा सकते हैं, भाई ! है तो ज़रूर लिखने लायक मसाला।' दूसरे मित्र का सुझाव मिला।

लेकिन नाम बदलने का सुझाव सुन कर प्रमोद का चेहरा उतर गया। ज़िद करता हुआ-सा वह बोला, 'क्या रखा है इसमें ? एक वही तो नहीं इस नाम की दुनिया भर में। बीसियों पन्ना हैं। हाँ, औरों का नाम बदल भी दो लेकिन उसका मत बदलना।' बड़े अनुनय भरे स्वर में वह बोला।

'हाँ, तुम्हारी तो उससे पुरानी खार है न! इश्क की अर्ज़ी ले कर लखनऊ तक पहुँचे थे। उसने कोई लिफ्ट ही नहीं दिया।'

प्रमोद का उत्साह मन्द पड़ता देख कर मैंने दूसरी बात छेड़ दी, 'रोओ मत, राओ मत, मैं सितम्बर में फिर आऊँगा वाला क़िस्सा क्या है? पान की दूकान पर खड़े-खड़े मैं छोकरों के मुँह से कई बार सुन चुका हूँ।'

हो-हो-हो सभी ठहाका मार कर हँस पड़े।

'मर्यादा पुरुषोत्तम जब निश्चित अवधि के पश्चात् बम्बई रूपी अयोध्या को लौटने लगे तो मुनि हरिहर ने अपने आश्रम में बुला कर उन्हें बिदाई दी। उन्होंने मुनिवर और मुनि-पत्नी के चरण स्पर्श किये। मुनि-कन्याओं ने विलाप किया। कनिष्ठ कन्या के अश्रुमोचन करते हुए उन्होंने भरे कण्ठ से कहा—प्रिये! रुदन मत करो। यात्रा में विलम्ब हो रहा है, मैं सितम्बर में पुनः मृगया के लिये इधर आऊँगा-हमारे दूतों ने यह समाचार समस्त नगरी में पहुँचा दिया और अब आप आश्रम के किशोर ब्रह्मचारियों के श्रीमुख से जो श्लोक सुन रहे हैं वह सर्वप्रथम मर्यादा पुरुषोत्तम के ही श्रीमुख से उच्चरित हुआ था।'

टेबुल तोड़ ठहाकों के बाद मीटिंग खत्म हुई।

तीन दिन तक प्रमोद का मेहमान बनने के बाद मैं घर लौट आया। बस स्टेशन पर प्रमोद ने फिर याद करा दिया, 'देखो, पद्मा पर कहानी ज़रूर लिखना। पिताजी अपना 'साप्ताहिक' फिर से निकालने की सोच रहे हैं। इधर इलेक्शन का चक्कर आ पड़ा है। लेकिन मैं उसे एकदम पॉलिटिकल पेपर नहीं बनने दूँगा। कम-से-कम दो पेज़ साहित्य के लिये रखने की मेरी योजना है। तुम यह कहानी मुझे ज़रूर देना। और सुनो, बिज़नेस इज़ बिज़नेस! रोटी के लिये तुम भी लिखते हो; जो बाहर वाले तुम्हें देते हैं उस से कम नहीं दूँगा। और

तुम्हें लेना पड़ेगा, दोस्ती का कोई लिहाज़ नहीं।'

ड्राइवर ने हॉर्न दे दिया था। मैं अपनी सीट पर जा कर बैठ गया। विदा होते-होते हाथ मिलाते हुए प्रमोद ने दस-दस रुपये के तीन नोट मेरे हाथ में पकड़ा दिये। गाड़ी चल दी थी लौटा नहीं पाया; समझ गया कि कहानी का अग्रिम पारिश्रमिक उसने इसलिये दे दिया है कि कहीं मनीआर्डर लौटा न दूँ।

*

लखनऊ में ललिता ने परिचय कराया—'मेरी फ्रैण्ड हैं मिस पद्मा साह।'

नमस्कार के आदान-प्रदान के पश्चात भी मैंने नहीं बताया कि इस नाम से परिचित हो चुका हूँ। प्रमोद के दिये करेक्टर को और भी निकट से जानने का लोभ था। ललिता के लिये भी यह रहस्य अनजाना ही रह गया।

सप्ताह में तीन-चार बार हज़रतगंज घूमने का प्रोग्राम बनता और ललिता हर बार पद्मा साह को साथ लेना नहीं भूलती। इधर-उधर की बातों के साथ ही किताबों या फिल्मों की बात चलती। कई बार किरणकुमार का प्रसङ्ग आया लेकिन बात फिर इधर-उधर हो गयी। 'मधुयामिनी' की शूटिंग की बात ललिता जानती हो ऐसा संकेत उस की बातों से नहीं मिला। शायद पद्मा इसे गुप्त ही रखना चाहती है सोच कर मैं भी चुप रहा।

परन्तु बहुत दिनों तक अपनी उत्सुकता न रोक पाया। दो दिन पूर्व 'मधुयामिनी' रिलीज़ हो चुकी थी, बातों-बातों में मैंने पूछा, 'किरणकुमार का अभिनय आप को कैसा लगता है?'

पद्मा ने क्षण भर मेरी ओर देखा, फिर बोली, 'मैंने कभी इस बारे में सीरियसली सोचा ही नहीं कि कौन कैसा अभिनय करता है।

दरअसल कुमारजी, मेरी रुचि सिनेमा में है ही नहीं।' बात इस ढंग से कही गयी थी कि उसे आगे बढ़ाना ज़िद के सिवाय और कुछ न होता।

दूसरे दिन ललिता ने 'मधुयामिनी' देखने का प्रोग्राम रखा था। 'नवजीवन' के दफ्तर से होता हुआ मैं कॉफ़ीहाउस में उन की प्रतीक्षा कर रहा था। थोड़ी देर बाद अकेले पद्मा ही पहुँची।

काफ़ी के कप अपने सामने रखे हुए हम दोनों चुपचाप किनारे की टेबल पर बैठे थे 'ललिता नहीं आई अब तक?' पद्मा ने घड़ी की ओर देखते हुए पूछा।

'आती ही होंगी, अभी तीस मिनट हैं' कहकर मैं फिर चुप हो गया।

'मधुयामिनी की अच्छी तारीफ हुई है पेपर्स में' कह कर मैंने बात छेड़ी, 'वैसे अच्छा टेलेन्टेड एक्टर है यह किरणकुमार। मेरी अपनी राय है, आप तो इस बारे में सीरियसली सोचती ही नहीं हैं' मैं मुस्कराया।

'कुमार जी!'

पद्मा की आँखें एकटक मेरी ओर लगी हुई थीं। मुझे लगा जैसे कुछ कहने के लिये वह अन्दर ही अन्दर शक्ति बटोर रही है। उस क्षण उन आँखों में एक अनोखी चमक आ गयी थी।

क्षण दो-एक तक मौन रह कर, अपनी दृष्टि उसी प्रकार मेरे मुख पर टिकाये हुए वह बोली:

'कुमार जी! किस-किस के अभिनय को लेकर सोचा जाय? आप, जो सब कुछ जान कर भी अनजान बनने का अभिनय कर रहे हैं; या स्वयं मैं, जिसने किरण कुमार के अभिनय के जाल से भोली-भाली उमा को बचाने के लिये उसकी प्रतिद्वन्दिता का अभिनय किया था....। हम सभी तो अभिनेता हैं—शायद टेलेन्टेड भी।'

अधिक देर तक मुखोश धारण नहीं कर सका। शायद मेरा चेहरा सफेद पड़ गया था।

शुभो दीदी

'उसे तो तीसरा चल रहा है' माँ ने धीमे स्वर में कहा था। बात पिताजी को बतायी जा रही थी, पर माँ का मुँह उन की ओर न था।

'किस की बात कह रही हो?' पिताजी ने कालर का बटन लगाते हुए सहसा रुक कर साश्चर्य माँ से पूछा था।

'शुभा की ही कह रही हूँ, जी! अभी बेचारी की कच्ची उम्र है, खेलने-खाने के दिन' माँ कह रही थी, और लगता था, जैसे अन्दर-ही-अन्दर किसी असह्य वेदना से वह छटपटा रही हो।

'हूँ?' सुनकर केवल इतना ही निकला था पिताजी के मुँह से और उदास-से वह उस दिन जल्दी ही आफिस को चल दिये थे।

न जाने माँ और पिताजी के इस वार्तालाप का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ था। जब मैं कमरे में पहुँचा, तो केवल इतना ही सुन पाया। मैं तब छोटा ही था, शायद इसी कारण मेरी उपस्थिति की ओर

उन्होंने ध्यान न दिया था। याने, न मुझे बाहर जा कर खेलने का आदेश मिला था और न उन्होंने वार्तालाप का विषय ही बदला था।

शुभो दी के सम्बन्ध में की गयी इतनी रहस्यपूर्ण बात को जानने की तीव्र अभिलाषा होते हुए भी मैं माँ से कुछ पूछ न पाया था। न जाने कैसे यह विश्वास हो गया था कि जो भी बात चल रही है, वह किसी गोपनीय विषय पर ही चल रही है, मेरी पहुँच से परे। यदि जानने की अनाधिकार चेष्टा करूँ भी, तो मेरा प्रयास अनुचित और दंडनीय होगा। इसी कारण चुप रह गया था।

'सफेद बाल काला'

मोटे अक्षरों में लिखी गयी इस पंक्ति के नीचे और भी बहुत-कुछ लिखा हुआ है, अपेक्षाकृत छोटे-छोटे अक्षरों में, और साथ ही छोटे आकार की तेल की बोतल का भी एक चित्र बना है। अखबार पढ़ते-पढ़ते जब कभी इस विज्ञापन पर दृष्टि पड़ जाती है, तो वर्षों पुरानी बातें फिर आँखों के सामने आ जाती हैं। कभी न मिटने वाली इन स्मृतियों से सम्बन्धित हैं माँ और पिताजी का वही वार्तालाप, शुभो दी, सन्तू, ज्योतिषी और विशू बाबू....

विशू बाबू कई वर्षों से हमारे पड़ोस में रहते थे। छोटा कद, भरा-भरा शरीर, आकर्षणहीन मुखाकृति, यही उनका हुलिया था। सिर के सफेद बालों को वह बड़े यत्न से सँवारते थे। अपने घर में, परिवार के नाम पर, केवल वह ही थे। रोटी-पानी से भी अधिक प्रिय उन्हें पान थे। मुहल्ले के अधिकांश पंजाबी परिवारों में पान का प्रचलन नहीं था। कभी-कभार चूना या सुपाड़ी की कमी पड़ जाने पर वह हमारे यहाँ ही चले आते थे। यों, तर-त्यौहारों में भी माँ उनका खाना घर में ही पे बना लेती थी। पिताजी का और उन का एक ही आफिस था। पिताजी से वह बातें करते, तो बड़े बाबू, छोटे साहब, राय साहब, चोपड़ा, दत्ता

और जाने किन-किन का जिक्र उनकी बातों में होता था। यह सन्तू और मैं कुछ न समझ पाते थे। उनके आने पर हमारा कर्त्तव्य अन्दर के कमरे में जाकर पिताजी को सूचित करना तथा उनके प्रस्थान पर दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें नमस्कार करना भर ही होता था।

बचपन के उन वर्षों में, जब हमें प्रत्येक आगन्तुक से अपनी पढ़ाई, लिखाई व स्कूल के सम्बन्ध में एक-आध प्रश्न पूछे जाने की अपेक्षा रहती थी, विशू बाबू ने कभी कोई प्रश्न हम से पूछा हो या कभी मुस्करा कर ही नमस्कार का उत्तर दिया हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता।

अभिवादन के इस व्यवहारिक आदान-प्रदान में सहसा एक दिन परिवर्तन हो गया था। विशू बाबू पिताजी से मिलने के लिये आये हुए थे। काफी देर तक बातें होती रही थीं। ऐसा लगता था कि उनके उस दिन के वार्तालाप का सदैव की भाँति बड़े बाबू, राय साहब, चोपड़ा, दत्ता इत्यादि से सम्बन्ध न था। जाने क्या बातें हो रही थीं। मैं और सन्तू बाहर के कमरे में बैठे पढ़ रहे थे। लौटती बार हमारे नमस्कार के उत्तर में उन्होंने भी हाथ जोड़ दिये थे और हमें देख कर वह पहली बार मुस्कराये थे। पढ़ाई के सम्बन्ध में भी उन्होंने उस दिन हम से दो-चार प्रश्न पूछे थे।

विशू बाबू का ऐसा अभूतपूर्व व्यवहार देख कर जो विस्मय हुआ था, उस का समाधान भी उसी समय हो गया। पुस्तक लेने के लिये मैं अन्दर के कमरे में गया, तो माँ चकित-सी मुस्करा कर कह रही थी, 'नहीं तुम्हें धोखा हुआ है, जी! किसी सगे-सम्बन्धी की कहते होंगे।'

'सगे-सम्बन्धी तो अब बनेंगे उनके!' पिताजी का हास्यमिश्रित स्वर सुनायी पड़ा था।

'जाने कौन कसाई माँ-बाप होंगे जो जान-बूझकर बूढ़े के गले बाँध रहे हैं अपनी लड़की को!' माँ दुखी स्वर में कह रही थी।

दीर्घ निःश्वास भर कर पिताजी ने कहा था, 'गरीबी जो न कराये थोड़ा !' फिर कोई कुछ न बोला ।

मैं पुस्तक लेकर बाहर चला आया था। जो-कुछ अन्दर से सुन कर आया था, उसे अपने तक रखना कठिन हो रहा था। मैंने सन्तू से कहा था, 'सन्तू, एक बात बताऊँ ? किसी से कहना मत !'

किसी को न बताने वाली शर्त मान कर जब सन्तू व्यग्रता से मेरी ओर देखने लगा, तो मैंने उसे बताया कि विशू बाबू का विवाह होने वाला है।

सन्तू को शायद किसी अन्य रहस्य की आशा थी। मेरी बात सुन कर उसे निराशा ही हुई। मेरे अज्ञान पर हँस कर ही जैसे उसने कहा, 'तुझे पता भी है, शादी ऐसे बुड्ढे लोगों की नहीं होती।'

सन्तू मुझ से एक-दो वर्ष ही छोटा है, पर बचपन में भी यह मुझ से कहीं अधिक बुद्धिमान था। उस का प्रत्येक तर्क सर्वथा मौलिक होता था। जाने कैसे उस ने यह बात कह कर मुझे निरुत्तर कर दिया था। तब अपने अनुमान पर स्वयं मुझे शंका होने लगी थी। पर वास्तव में मेरा अनुमान ही ठीक निकला।

पिताजी ने किसी को बताया था कि विशू बाबू दस दिन का अवकाश लेकर गये हैं। मुहल्ले भर में विवाह की खबर फैल गयी थी। माँ कहीं कीर्तन में जाती, तो मुहल्ले की स्त्रियाँ उसे घेर लेतीं। बात करने के लिये केवल यही विषय रह गया था। कोई स्त्री कहती, 'कौन जाने लंगड़ी-लूली या कानी-भेंगी, कैसी है। अच्छी लड़की होती, तो एक विशू बाबू ही तो नहीं रह गये थे !'

अधिकांश स्त्रियाँ इस बात का समर्थन करती थीं।

हमारे घर में विशू बाबू के बैठने-उठने की बात को ले कर एक प्रौढ़ा पड़ोसिन ने माँ की ओर लक्ष्य कर अन्य स्त्रियों से कहा था,

'बहिना ! गले साफ कर लो, इनकी जेठानी आयेंगी, तो ये गीत तो गवायेंगी ही !'

सभी स्त्रियाँ खिलखिला कर हँस दी थीं।

गीत तो कौन गवाता, पर जिस दिन विशू बाबू आने वाले थे, उस दिन माँ ने चाय के साथ दो-एक चीजें और बना ली थीं। उस दिन सारे मुहल्ले वाले गाड़ी के आने की बाट जोह रहे थे, जैसे कोई बहुत ही दिलचस्प व्यक्ति आने वाला हो। विशू बाबू गाड़ी से आये तो, पर अकेले ही। हम चाय के लिये बुलाने गये, तो उन्होंने मुस्करा कर हमारा स्वागत किया और जीवन में पहली बार हमसे 'शेक हैन्ड' का आग्रह किया। सन्तू और मैंने आश्चर्य से एक-दूसरे की ओर देख कर अपने नन्हें हाथ आगे बढ़ा दिये थे।

जब विशू बाबू चाय पी कर पिताजी के साथ चले गये, तो पड़ोसिनों की जिज्ञासा शान्त करने के लिये माँ ने उन्हें जो-कुछ बताया, उस से मैं यही निष्कर्ष निकाल पाया कि विशू बाबू का विवाह निर्विघ्न सम्पन्न हो गया है और अपनी पत्नी को ससुराल वालों के आग्रह के कारण वह अभी कुछ दिन और पीहर में ही रहने देंगे। एक पड़ोसिन ने हाथों के संकेत से ही यह जानने का प्रयत्न किया था कि बहू कैसी है, कितनी बड़ी है, तब माँ ने भी हाथों के संकेत से ही अपने अज्ञान की घोषणा कर दी थी।

*

विवाह के पश्चात हर मास वेतन ले कर विशू बाबू अपनी ससुराल चले जाते और आठ-दस दिन तक वहाँ आतिथ्य ग्रहण कर फिर पूर्ववत् आफिस और घर का क्रम चालू रखते।

जिस बार उन्होंने अपनी पत्नी को ले आने की बात पिताजी से कही थी, शायद तब तक विशू बाबू के विवाह को छः मास बीत चुके

थे। माँ ने मुहल्ले-पड़ोस की किसी भी स्त्री को इस बार वधू के आगमन की बात न बतायी थी। जिस दिन वे लोग लौटे, गाड़ी कुछ लेट थी। स्टेशन से घर आ कर विशू बाबू सीधे आफिस चल दिये थे। मैं जब उन्हें चाय के लिये लिवाने गया, तो द्वार पर ताला लगा हुआ था। यह सोच कर कि शायद अभी वे लोग लौटे ही नहीं, मैं वापिस हो रहा था कि तभी जो-कुछ देखा, उसे आज तक नहीं भूल पाया हूँ। बायीं ओर की छोटी खिड़की से दो आँखें अपलक मुझे देख रही थीं। बड़ी-बड़ी आँखें! कितनी पीड़ा, कितनी व्यथा थी उन आँखों में! शैशव के उन दिनों में भी उन आँखों को देख कर मेरा मन सिहर उठा था। जितनी बड़ी आँखें थीं, उसके अनुपात से चेहरा उतना ही छोटा था। मैं अधिक देर तक उन आँखों से आँखें न मिला सका। मन जाने कैसा हो गया था। घर लौट आया था। उदास-सा माँ से जब सब-कुछ कहा, तो उस की आँखें भी भर आयी थीं।

माँ को तब तक कभी भी विशू बाबू के सामने बोलते हुए मैं ने नहीं सुना था। पर उस साँझ उन्होंने विशू बाबू को बैठक में बुलवाया और पर्दे की ओट में हो कर बहुत-कुछ कहा। लज्जित-से विशू बाबू चल दिये थे और फिर दूसरे दिन से विशू बाबू के आफिस चले जाने के बाद वह बड़ी आँखों वाली लड़की हमारे घर आने लगी थी।

माँ ने उससे उसका नाम पूछा था।

'सब शुभो ही कहते थे' उस ने कम्पित स्वर में कहा था।

माँ ने और भी बहुत-कुछ पूछा था। माँ, बाप, गाँव, जमीन, सब बातें पूछी थीं। डरते-डरते कम्पित स्वर में शुभो ने सब-कुछ बताया था।

'पिता जी हैं?'

'नहीं'

'माँ ?'

'नहीं'

'किस के साथ रहती थी ?'

'मामी के साथ, मामा भी नहीं हैं'

'और कोई नहीं है ?'

'पता नहीं'

टप....टप....टप....चार आँखों से बड़ी-बड़ी बूँदें गिरती जाती थीं, दो प्रौढ़ आँखें, दो शैशव और किशोरावस्था के सन्धिकाल में बिलखती आँखें !

हम से रुष्ट हो जाने पर माँ कभी-कभी कहा करती थी, 'वह लक्ष्मी आज रहती, तो मुझे कोई दुख न होता !'

वह लक्ष्मी कौन थी, जिसे हम ने कभी देखा नहीं, जिस के विषय में केवल सुना ही भर था ?

शायद माँ की पहली सन्तान, हमारी बड़ी बहन, जिसे माँ के शब्दों में भगवान् ने छीन लिया था। शुभो को पा कर माँ का वह घाव फिर हरा हो गया था।

माँ ने हमें आदेश दिया था कि उसे हम शुभो दीदी कहा करें।

साँझ को पिताजी घर लौटे। साथ में विशू बाबू भी थे। उनसे मज़ाक करने की नीयत से पिताजी ने घर में पैर रखते ही कहा, 'हम भी भाभीजी के दर्शन कर लें !'

पर रसोई-घर में आ कर जब उन्होंने शुभो दी को देखा, तो उदास से लौट गये। फिर कभी भी शुभो की अपेक्षा अन्य शब्द उस के प्रति पिताजी के मुँह से नहीं निकला।

*

माँ का अपार स्नेह पा कर शुभो दी हमारे परिवार में घुल-मिल

गयी। माँ कभी-कभी पिताजी से कहा करती, 'अभी एक-दम बच्ची है, बिल्कुल पगली, कुछ भी नहीं समझती।'

शुभो दी को कितनी कहानियाँ याद थीं, हम आश्चर्य करते थे। बातों-बातों में कभी स्कूल का जिक्र आ जाता, तो शुभो दी हमें बताती कि हमारे स्कूल चले जाने पर वह भी माँ के पास बैठ कर पढ़ा करती है। विशू बाबू ने उस के लिये जो पुस्तकें ला दी थीं, उन्हीं की कहानियाँ वह कभी-कभी हमें भी सुनाने लगती थी। पर उन कहानियों का एक ही स्वर रहता था। नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान्, सीता, द्रौपदी और न जाने कितने ऐसे ही पात्र उन कहानियों के होते थे। हमारा आग्रह राजकुमारों, परियों की कहानियों के प्रति होता था और शुभो दी को ऐसी कहानियाँ भी खूब याद थीं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता कि हमें कहानी सुनाते-सुनाते स्वयं ही शुभो दी झपकी लेने लगती और विशू बाबू जब बुलाने आते, तो सोयी हुई पा कर लौट जाते। वह दूसरे दिन ही अपने घर जा पाती।

उन दिनों सन्तू को एक नया मज़ाक सूझा था। एक दिन घर पर एक ज्योतिषी आये थे। सभी ने अपना-अपना हाथ दिखाया था। विशू बाबू का हाथ दिखाते हुए पिताजी ने पूछा था, 'सन्तति सुख कैसा है इनके हाथ में?' उत्तर में ज्योतिषी ने क्या कहा था, यह तो आज याद नहीं, पर इस के बाद सन्तू जब भी बैठता, किसी-न-किसी का हाथ ले कर सन्तति-सुख बताने लगता। एक दिन शुभो दी का हाथ देख कर बोला, 'शुभो दी, तुम्हें बहुत जल्दी ही बेटा मिलेगा, पर उस के सिर के बाल भी विशू बाबू की तरह ही सफेद होंगे!'

शुभो दी को जैसे विश्वास हो गया। माँ की ओर हाथ बढ़ा कर बोली, 'माँ, तुम देखो तो!'

जाने क्यों माँ को भी उस दिन परिहास करने की सूझी थी, शुभो दी

का हाथ अपने हाथों में ले कर उसने कहा, 'सन्तू ठीक ही कह रहा है, शुभो !' और माँ फिर मुस्करा दी।

'नहीं, माँ, यों ही कह रही हो' शुभो दी ने प्रतिवाद किया, पर उस का मन जैसे आशंकित हो उठा था।

इस के बाद सन्तू को जब भी कोई मौका मिलता, कोई ऐसा ही मज़ाक कर देता। एक बार अखबार से एक विज्ञापन काट लाया, सफेद बाल काला, किसी तेल का विज्ञापन। और शुभो दी को विज्ञापन दिखाता हुआ बोला, 'शुभो दी, यह तेल मँगा लेना अपने बेटे के लिये !'

सन्तू की बातें सुन कर शुभो दी उसकी धारणा का प्रतिवाद करती, पर उस का हृदय सचमुच ही आशंकित हो उठा था।

*

उस दिन माँ हमें जल्दी ही खाना खिला कर शुभो दी के घर चली गयी। हमें बताया गया कि शुभो दी बीमार है। पर जब दाई-माई आयी, तो हमारे शिशु-मन ने यह जान लिया कि शुभो दी के घर में भगवान्‌जी कोई बच्चा भेजने वाले हैं। तब तक हमें अनुभव हो गया था कि मुहल्ले में जिस के घर भी भगवानजी ने बच्चा भेजा, इसी दाई-माई के द्वारा भेजा था।

माँ न जाने क्या लेने घर आयी। सन्तू ने पूछा, 'माँ, शुभो दी के घर भगवानजी....'

और माँ ने बीच में ही बात काट कर हाँ कर दी, माँ अत्यधिक परेशान थी घर में आ कर वह सीधे ठाकुरजी की कोठरी में गयी थी। ठाकुरजी के आसन में चाँदी का रुपया और एक छोटी-सी चवन्नी रख कर उसने आँखें मूँद कर न जाने क्या कहा था और फिर लौटती बार वह ठाकुरजी के चरण छू कर शुभो दी के घर की ओर जाने लगी,

तो हम भी उस के पीछे-पीछे हो लिये।

शुभो दी चारपाई पर अचेत पड़ी थी। पास ही दाईमाई खड़ी थी। उस की बाहों में एक दुबला-पतला नन्हा-सा शिशु सोया था। सन्तू ने दाईमाई की ओर इंगित कर मुझे बताया कि भगवान की देन उसके हाथों में है और मैंने सिर हिला कर उस की बात को समझने की स्वीकृति दे दी।

कमरे का वातावरण इतना खिंचा-खिंचा सा था कि हम कुछ कह न पाये। माँ और पिताजी डाक्टर से बातें कर रहे थे, सभी एक-दूसरे की ओर उदास आँखों से देख रहे थे। विशू बाबू इन लोगों के साथ नहीं थे। बहुत प्रयत्न के बाद ही मेरी आँखें उन्हें खोज पायीं। वह बाहर के कमरे में तख्त पर घुटनों में सिर डाले बैठे हुए थे।

सहसा शुभो दी ने धीमी आवाज में माँ को पुकारा। माँ दौड़ कर उस के पास गयी। शुभो दी ने आँखें खोल कर धीमे-से स्वर में न जाने क्या कहा, हम समझ नहीं पाये। पर माँ ने नवजात शिशु को अपनी बाहों में ले कर शुभो दी के आगे कर दिया। बड़ी व्यग्रता से शुभो दी ने शिशु के सिर पर हाथ फेरा। गहरे भूरे बालों को देख कर जैसे उसे अपार सन्तोष हुआ, उस क्षण उसकी आँखों में अनोखी चमक आ गयी थी। सभी ने सुना, शुभो दी कह रही थी—'सन्तू, सफेद नहीं, काले बाल!'

शुभो दी ने ये ही शब्द अन्तिम बार कहे थे।

माँ उस दिन फूट-फूट कर रोयी थी। उसकी लक्ष्मी दूसरी बार उससे विदा हो गयी थी।

बंदबू

एक साथी ने उसकी परेशानी का कारण भाँप लिया था, 'ऐसे नहीं उतरेगा मास्टर! आओ, तेल में धो लो' कह कर उस साथी ने उसे अपने साथ चले आने का संकेत किया।

एक बड़े टब में घटिया किस्म का कैरोसीन तेल रखा हुआ था। दोनों ने अपने हाथों को कुहनी-कुहनी भर उस में डुबाकर मला। अब हथेलियों और बाँहों में लिपटी सारी चिकनी कालिख धुल गई थी, परन्तु उसे लगा जैसे दोनों बाँहों में अदृश्य चींटियाँ रेंग रही हों। कैरोसीन तेल की गन्ध के कारण उस का जी मिचला उठा। इस खीझ और गंध से मुक्ति पाने के लिये वह नल की ओर चल दिया।

अन्तिम साइरन बज चुका था। पानी के प्रत्येक नल पर बीसियों कामगर घिरे हुए थे, कुछ लोग हाथों में साबुन मल रहे थे और शेष मल चुकने पर हाथों को पानी से धोने के लिये अपनी बारी की प्रतीक्षा

कर रहे थे। उसे देख कर सब की अजनबी निगाहें उस की ओर लगीं गईं। एक-दो मज़दूरों ने सौजन्य प्रदर्शन के लिये अपनी बारी आने से पहले ही उसे पानी लेने को बढ़ावा दिया। किंचित संकोच के बाद उसने आगे बढ़ कर पानी ले लिया। यह संकोच स्वाभाविक था। अपनी बारी आने से पहिले पानी लेने का प्रयत्न करने वालों को उत्साहित करने की इच्छा किसी के मन में न थी यह वह दो क्षण पहले विभिन्न स्वरों में सुन चुका था।

परन्तु उसे पानी लेते देख कर किसी ने आपत्ति नहीं की। एक बार हाथ अच्छी तरह धो लेने पर उस ने उन्हें नाक तक ले जा कर सूंघा कैरोसीन की गंध अभी छूटी नहीं थी। दुबारा साबुन से धो लेने पर भी उसे वैसी ही गंध का आभास हुआ फिर एक बार और साबुन जेब से निकाल कर उस ने हाथों में मलना शुरू कर दिया।

घासी रस ले-ले कर एक किस्सा सुनाने लगा और सारा समूह अपनी व्यस्तता भूल कर उस की बात सुनता रहा—

'एक गाँव के मेहतर की लौंडिया थी। उस की शादी हुई शहर में। जैसा तुम जानो, गाँव के मेहतरों को तो कभी गंदा उठाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। नई-नई शहर में गयी तो दिन रात नाक चढ़ा के अपने खसम से कहा करे—बदबू आती है, बदबू आती है। मालिक क्या करता! उस की खातिर पेशा तो छोड़ नहीं सकता था। धीरे-धीरे लौंडिया भी काम पर जाने लगी। साल-छः महीने के बाद मेहतर की सासू शहर देखने आयी। रास्ते में ही हाथ में झाड़ू बाल्टी लिये बेटी मिल गयी। माँ पहले तो लाड़ से बेटी से गले मिली और फिर नाक पर आँचल रख लिया।

बेटी ने पूछा, 'ऐ अम्मा, नाक, मुँह क्यों बन्द कर लिया?'

माँ बोली, 'बेटी, बदबू आती है।'

बेटी अचम्भे से बोली, 'कैसी बदबू? मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम देती।'

नल के इर्द-गिर्द घिरे हुए सभी कामगरों के थके चेहरों पर भी उस की बात सुन कर हँसी खिल गयी। घासी ने ही फिर बात को स्पष्ट किया, 'ये भाई भी अभी हाथ नाक पै ले जा-जा के सूंघ रहे थे तभी किस्सा याद आया। पहले-पहल हम भी ऐसे ही सूंघा करें थे। पर अब तो ससुरा पता ही नहीं लगता। कितनी बार तो साबुन नहीं मिलता, ऐसें ही पोंछ-पाँछकर रोटी खाने बैठ जाते हैं।'

संकेत उसी की ओर था। परिहास के उत्तर में गम्भीर हो जाना उसे उचित न लगा। सभी की हँसी में उस ने अपना योग भी दे दिया। परन्तु घासी की बात पर उसे आश्चर्य हो रहा था। तेल की ऐसी तीखी दुर्गन्ध को साबुन से छुटाये बिना आदमी कैसे भला चैन से रह सकेगा। इसका उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था।

कपड़े बदल कर वह लाइन में जा लगा। इकहरी पंक्ति के प्रारम्भ में हैड फोरमैन के साथ एक गोरखा सिपाही खड़ा था। प्रत्येक मज़दूर अपना रोटी का खाली डिब्बा खोल कर उसे दिखाता और फिर दोनों हाथ ऊँचे उठा कर तलाशी देने की मुद्रा में खड़ा हो जाता। गोरखा सर्चर मज़दूर की छाती, कमर और जेबों को टटोल कर आगे बढ़ जाने का संकेत कर देता। जल्दी घर पहुँचने की इच्छा रखने वालों को पंक्ति की धीमी गति के कारण झुंझलाहट हो रही थी। इसी झुंझलाहट में कभी-कभी लोग पंक्ति में अपने से आगे वाले व्यक्ति को ठेल देते। बीच-बीच में मोटा फोरमैन उन की इस जल्दबाज़ी की कोई भद्दी, अश्लील व्याख्या कर हँस देता था। उसे फोरमैन का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। परन्तु उस ने सुना, पंक्ति में से ही कोई कह रहा था, 'फोरमैन जी भी बड़े रंगीले आदमी हैं।' सम्मति प्रकट करने वाला एक अधेड़

उम्र का व्यक्ति था जो अब भी कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से फोरमैन की ओर देख रहा था कि जैसे फोरमैन ने यह मज़ाक कर के उन पर बड़ी कृपा कर दी हो।

उसकी तलाशी देने की बारी आ गयी थी। ठिगने सिपाही ने अपनी एड़ी उठा कर बड़ी कठिनाई से उसकी तलाशी ली। सिपाही के इस आयास को देख कर उस का मन हँसने को हुआ परन्तु मन पर अवसाद की धुंध इतनी गहरी छा गयी थी कि वह हँस न सका। बड़े फाटक से पहिले फिर इकहरी पंक्ति बन गयी थी। परन्तु इस बार पंक्ति के परले सिरे पर खड़ा हुआ सिपाही तलाशी नहीं ले रहा था, वरन् वह यह देखने के लिये खड़ा था कि कोई भी व्यक्ति कठघरे में आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लाँघे बिना न चला जाय। अन्य सभी मज़दूरों की भाँति वह भी आड़ी गिरी हुई लकड़ी को लाँघकर बाहर चला आया। पीछे मुड़ कर उस ने फिर एक बार कठघरे की ओर देखा—लोग अब भी एक-एक कर कूदते हुए चले आ रहे थे। इस उछल-कूद का प्रयोजन वह नहीं समझ पाया। गेट से बाहर निकल कर उसने अनुभव किया जैसे वह बन्द कोठरी से निकल कर खुली हवा में चला आया हो।

'क्या आफत बना रखी है!' अनायास ही उसके मुँह से निकल गया।

अनजान में ही कहे गये ये शब्द साथ चलने वाले एक बुज़ुर्ग के कानों तक पहुँच गये थे। उन्होंने धीरे से अपनी राय प्रकट की, 'नये आये लगते हो? पहले-पहल ऐसा ही लगता है, धीरे-धीरे आदत पड़ जायगी।' आकाश की ओर अंगुली उठा कर उन्होंने बात आगे बढ़ायी, 'उस नीली छतरी वाले का शुक्र करो कि यहाँ काम मिल गया। अच्छे-भले पढ़े-लिखे लोग धक्के खाते फिरते हैं; हमारे पड़ोस में एक लड़का.........'बुज़ुर्ग अपने अनुभव की पोटली खोल कर बहुत कुछ

बिखेरना चाहते थे, लेकिन उस का मन उन की बातों में नहीं लगा, कनखियों से उस ने उन की ओर देखा। उस ऊपर वाले के अहसान का बोझ उठाते-उठाते ही जैसे उन की कमर टेढ़ी हो गयी थी। वह चाल तेज़ कर आगे बढ़ गया।

रास्ते भर उस के दिमाग में वही सब कुछ घूमता रहा जो वह दिन-भर में देख-सुन चुका था। घासी और उस बुज़ुर्ग आदमी की बात याद आने पर वह सोचने लगा, क्या सच ही एक दिन वह भी सब कुछ सहने का आदी हो जायगा और नीली छतरी वाले के अहसानों का बोझ उसकी कमर को भी वैसे ही झुका देगा!

कारखाने में यह उस का पहला दिन था।

फिर एक-एक कर कई दिन बीत गये। परन्तु घुटन और अवसाद की छाया दिनों-दिन बोझिल होती गयी।

शहर के बाहरी भाग में स्थित कारखाने की पहली सीटी पर प्रति दिन कामगर लोग अपनी-अपनी गृहस्थी छोड़ कर, हाथों में रोटी-चबैना की पोटली या डिब्बा लटकाये, अपनी सुध-बुध खो कर तेज़ कदमों से कारखाने की ओर चले आते। दिनभर कारखाने की खटर पटर में मशीनों और औजारों से जूझ कर थकी-लस्त देह वालों का यह काफ़ला सांझ के धुंधलके में अपने घरों की ओर चल देता। सर्दी, गर्मी, बरसात में कभी-भी इस क्रम में कोई बाधा न पड़ती।

कारखाने में अपने-अपने अड्डे पर काम करते हुए लोगों को हर रोज सुबह से शाम तक एक ही स्थान में, उन्हीं चिर-परिचित मुद्राओं में देख कर उसे ऐसा लगता जैसे वह वर्षों से उन्हें उसी स्थान पर इसी रूप में देखता आ रहा हो। इस नीरस ज़िन्दगी में कोई हलचल हो भी जाती तो उस का प्रभाव अधिक देर तक नहीं टिकता। तालाब के ठहरे हुए जल में कंकड़ फेंक देने पर जिस तरह क्षणिक हलचल होती है

वही प्रतिक्रिया वहाँ किसी नयी घटना की होती। एक-दो दिन तक कारखाने में उस घटना की चर्चा रहती और फिर सब कुछ पूर्ववत, शान्त हो जाता। साथी कामगरों के चेहरों पर असहनीय कष्टों और दैन्य की एक गहरी छाप थी जो आपस की बातचीत या हँसी मज़ाक के क्षणों में भी स्पष्ट झलक पड़ती थी। किसी प्रकार की नवीनता के प्रति सब के मन में एक विचित्र शंका-भाव जड़ जमाये बैठा रहता। शायद यही कारण था कि अचानक ही एक छोटी सी घटना के पश्चात उसके साथियों का व्यवहार उसके प्रति शंकालु हो उठा था।

यों घटना कुछ विशेष नहीं थी। उस दिन कारखाने में हर जगह बीड़ी-का तूफान मचा हुआ था—

'अबे हद हो गई यार ! साला बुधुवा सुलगती बीड़ी निगल गया।'

'हम वहीं खड़े थे भाई ! साहब ने मुँह खुलवाया, मुँह में नहीं थी।'

'कमाल है ! साले को सरकस में जाना चाहिये।'

चीफ़ साहब के आदेश पर सभी मज़दूर एक स्थान पर एकत्रित हो गये थे। साहब के निकट ही बुद्धन सिर झुकाये खड़ा था। उपस्थित समूह को नसीहत देते हुए साहब ने बताया कि किस तरह उन्होंने पीछे से जाकर बुद्धन को कारखाने के अन्दर बीड़ी पीते हुए पकड़ा और किस प्रकार चतुराई से उसने बीड़ी मुँह के अन्दर ही डाल कर गायब कर ली थी।

साहब बोले, 'कारखाने में इतनी कीमती चीजें पड़ी रहतीं हैं, किसी भी वक्त आग लग सकती है, एक आदमी की वजह से लाखों रुपये का नुकसान हो सकता है। हम ऐसी गलतियों पर कड़ी-से-कड़ी सजा दे सकते हैं।'

बुद्धन को कड़ी चेतावनी के साथ एक रुपये का दण्ड देने की

साहब ने घोषणा कर दी, तभी भीड़ में से किसी ने ऊँचे स्वर में कहा, 'साहब, आग तो सभी की बीड़ी सिगरेट से लग सकती है !'

सैकड़ों विस्मित आँखें उस ओर उठ गईं जिधर से आवाज़ आई थी। साहब कुछ कहें इस से पहिले वही व्यक्ति फिर बोला, 'अफ़सर साहबान तो सारे कारखाने में मुँह में सिगरेट दाबे घूमते रहते हैं !'

भीड़ में एक भयानक खामोशी छा गयी। इस मुँहजोर नये आदमी की उद्दंडता देख कर साहब का मुँह तमतमा उठा। बड़ी कठिनाई से उन के मुँह से निकला, 'ठीक है, हम देखेंगे' और जाते-जाते उन्होंने तीखी दृष्टि से उस की ओर देखा जैसे उस की मुखाकृति को अच्छी तरह पहचान लेने का प्रयत्न कर रहे हों।

चीफ़ साहब अपने चैम्बर की ओर चल दिये। भीड़ छँट गयी। हवा में चारों ओर कानाफूसी के विचित्र स्वर फैलने लगे। बुद्धन की ओर से हट कर लोगों का ध्यान अब उस की ओर केन्द्रित हो गया था।

उस दिन छुट्टी के बाद लौटते हुए दो-तीन नौजवान उस के साथ हो लिये। प्रत्यक्ष रूप में किसी ने भी बीड़ी वाली घटना को ले कर उस की सराहना नहीं की, यद्यपि उन के व्यवहार और उन की बातों से उसे लगा जैसे उन्हें यह अच्छा लगा हो और वे उस के अधिक निकट आना चाहते हों। कठघरे से निकल कर एक नौजवान बुदबुदाया, 'सालों को शक रहता है कि हम टाँगों के साथ कुछ बाँधे ले जा रहे हैं, इसीलिए अब यह उछल कूद का खेल कराने लगे हैं।'

'इनका बस चले तो ये गेट तक हमारी नागा साधुओं की सी बारात बना कर भेजा करें' दूसरे ने उस की बात का समर्थन किया।

'खीर खाये बामणी, फाँसी चढ़े शेख, नहीं देखा तो यहाँ आ कर देख ! छोटे साहब की गाड़ी के पिस्टन अन्दर बदले गये हैं, खुद मैंने अपनी आँखों से देखा' पहले वाले व्यक्ति ने आवेश में आ कर कहा।

'चुप' दूसरे नौजवान ने फुसफुसा कर उसे टोक दिया, 'टेलीफून जा रहा है'।

एक चुस्त चालाक आदमी उन के साथ-साथ चलने लगा था। तभी दोनों जवानों ने अपनी बीवियों के बारे में बातें शुरू कर दीं।

इस घटना के बाद कुछ लोगों की दबी-दबी सहानुभूति पा जाने पर उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे किसी 'अंधेरे, बन्द तहखाने में प्रकाश' की हल्की किरण का आसरा उसे मिल गया हो। पर सभी कामगरों की आँखों में सहानुभूति का यह भाव नहीं था। अनेकों सहकर्मी इसी घटना के पश्चात् उसके प्रति रूखा व्यवहार करने लगे थे, और कुछ ऐसी भी आँखें थी जिनमें अचानक ही ईर्ष्या और उपेक्षा की भावना उभर आयी थी। ऐसी ही एक जोड़ा आँखें एक दिन छुट्टी के बाद मार्ग में बहुत दूर तक उस का पीछा करती रही थीं। उसे लगा जैसे साथ में चलने वाला वह व्यक्ति उस से कुछ कहने के लिए अकुला रहा है। उन दोनों के साथ-साथ मजदूरों का झुन्ड हाथों में थैला या टिफन का खाली डिब्बा लटकाये चला जा रहा था। एक नयी उम्र के शरारती कारीगर बीरू ने अपने से आगे चलने वाले अधेड़ उम्र के लालमणि के कुर्ते का पिछला हिस्सा उठा कर सिगरेट के खाली पैकेट में फँसा दिया था, पीछे चलने वाली भीड़ लालमणि के कुर्ते की पूँछनुमा बनावट और इस सम्बन्ध में उसकी अज्ञानता का आनन्द ले रही थी। तभी किसी ने उस के साथ चलने वाले आदमी को लक्ष्य कर आवाज़ दी—

'नेता जी, जैराम जी की!'

साथ चलने वाले व्यक्ति की ईर्ष्यालु दृष्टि का रहस्य उस की समझ में आ गया। उत्तर में 'नेता' ने व्यंग्यपूर्ण स्वर में कहा, 'काहे शर्मिन्दा करते हो भाई, अब तो कारखाने में बड़े-बड़े नेता पैदा हो गये हैं हम किस खेत की मूली हैं!'

*

जिस बात की उसे आशंका थी वही हुआ। शायद रात की सारी रिपोर्ट चीफ़ साहब के पास पहुँच गयी थी। चपरासी ने साहब के कमरे का द्वार खोल कर उसे उन के सामने पहुँचा दिया, फिर द्वार पूर्ववत् बन्द हो गया। साहब ने अपने हाथों से स्टूल उठा कर उस के बैठने के लिये आगे बढ़ा दिया और फिर नर्मी से बोले, 'हम तुम्हारी भलाई के लिये ही कह रहे हैं। ज़माना बुरा है। बाल-बच्चों वाले आदमी को ऐसी बातों में नहीं पड़ना चाहिये।'

अपने कथन की प्रतिक्रिया जानने के लिये साहब ने उस की ओर देखा। उन के हाथ मेज पर बिछे कपड़े की सलवटों को सहलाने में व्यस्त थे। साहब की ओर देख कर इस प्रश्न का उत्तर उन की आँखों में ही झाँक पाने का उस का मन हुआ। परन्तु काले चश्मे के अपारदर्शी शीशों के पीछे छिपी आँखों के स्थान पर केवल अन्धकार घिरा हुआ था।

'ऐसा कोई खतरनाक काम तो मैंने नहीं किया सा'ब' उसने पेपरवेट के फूलों पर अपनी नज़र जमा कर उत्तर दिया।

'हम जानते हैं, सब कुछ जानते हैं। कल रात तुम्हारे घर मीटिंग हुई थी या नहीं?' मानसिक उत्तेजना के कारण साहब दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में उलझाते हुए बोले।

'दो-चार यार दोस्त बैठने के लिये आ जांय तो उसे मीटिंग कौन कहेगा साहब?' उस ने बात का महत्व कम करने की कोशिश में मुस्कराने का अभिनय किया।

'सुनो जवान! यार दोस्तों की महफ़िल में गप्पें होती हैं, ताश खेले जाते हैं, शराब पी जाती है, लेकिन स्कीमें नहीं बनतीं।' इस बार स्वर कुछ अधिक सधा हुआ था।

'साहब, लोगों को मकान की परेशानी है, छुट्टियों का ठीक हिसाब

नहीं, छोटी-छोटी बातों पर जुर्माना हो जाता है। यही बातें आप से अर्ज़ करनी थीं। यही वहाँ भी सोच रहे थे।' स्वर में दीनता थी परन्तु साहब के चेहरे पर टिकी हुई उस की तीखी दृष्टि अनजान में ही जैसे इस अभिनय को झुठला रही थी।

'मैं कौन होता हूँ, जो तुम लोग मुझ से यह कहने के लिये आते हो ? मैं भी तो भाई, तुम्हीं लोगों की तरह एक छोटा-मोटा नौकर हूँ' अपनी दोनों हथेलियों को मेज पर फैला कर साहब ने कृत्रिम मुस्कान का ऋण लौटा दिया और अपनी कुर्सी पर अधिक आश्वस्त होकर बैठ गये। उन के सामने बैठे हुए व्यक्ति को यह समझौता स्वीकार न हुआ। कृत्रिमता के आवरण को पूरी तरह उतार कर दृढ़ स्वर में वह बोला, 'तो जो भी हमारी बात सुनेगा उसी से कहेंगे साहब !'

एकाएक साहब बौखला कर कुर्सी पर उछल पड़े, 'तुम लोग बाहर की पार्टियों के एजेन्ट हो, ऐसे लोग ही हड़ताल करवाते हैं। मैं एक-एक को सीधा करवा दूँगा। मैं जानता हूँ तुम्हारे गुट में कौन-कौन हैं। आइन्दा ऐसी बातें मैं नहीं सुनना चाहता।'

वह चीफ़ के कमरे से निकल कर अपने काम पर लौटा तो मिस्त्री पास बैठा कर समझाने लगा, 'इस दुनियाँ में सबसे मेल-जोल रख कर चलना पड़ता है। नदी किनारे की घास पानी के साथ थोड़ा झुक लेती है और फिर उठ खड़ी होती है। लेकिन बड़े-बड़े पेड़ धार के सामने अड़ते हैं और टूट जाते हैं। साहब ने तुम्हारी बदली कास्टिक टैंक पर कर दी है, बड़ा सख्त काम है, अब भी साहब को खुश कर सको तो बदली रुक सकती है।'

उत्तर में उस ने कुछ नहीं कहा। उठ कर कास्टिक टैंक पर चला गया। टैंक पर काम करने वाले मज़दूरों ने उसे देख कर भी अनदेखा कर दिया। उसे ऐसा लगा कि जैसे वे लोग जानबूझ कर

उस से पृथक रहने का प्रयत्न कर रहे हों। पुराने पेन्ट और जँग लगे हुए सामान को कास्टिक में धोया जा रहा था। आगे बढ़ कर उस ने भी उन्हीं की तरह काम शुरू कर दिया। शाम तक काम का यही क्रम चलता रहा। घर लौट कर उस ने अनुभव किया—हाथ-पैरों में विचित्र प्रकार की जलन हो रही थी।

घर पहुँचते-पहुँचते अंधेरा घिर गया था। हाथ-मुँह धोकर उस ने जल्दी-जल्दी खाना खाया और फिर बच्चे को ले कर आँगन में भिलँगी चारपाई पर आ बैठा। साँझ अत्यधिक उदास हो आयी थी। बच्चे ने कुछ देर तक उस से खेलने का प्रयत्न किया लेकिन पिता की ओर से विशेष प्रोत्साहन न पाने पर वह कब माँ के पास चला गया, इस का उसे ध्यान न रहा। जिन की उसे प्रतीक्षा थी उन में से कोई भी न आया था, केवल हरी राम ने आ कर अब तक दो-तीन बीड़ियाँ फूँक ली थीं।

हरीराम की ओर से ही दो-तीन बार बातचीत शुरू करने का प्रयत्न किया जा चुका था, लेकिन उसके अटूट मौन के कारण हर बार वह प्रयत्न विफल सिद्ध हुआ था। इस बार फिर हरीराम ने ही बात छेड़ी।

'घनश्याम की तो बीबी बीमार हो गयी लेकिन मोहन, राधे, हनीफ़ वगैरह किसी को तो आना चाहिये था।'

'शायद उनके बच्चें बीमार हो गये हो' भुँझला कर उसने उत्तर दे दिया।

हरीराम ने फिर बात दुहरायी, इस बार स्वर में चाटुता की भरमार थी—

'हम तो तुम्हारे पीछे हैं भाई। जैसा तुम कहोगे वैसा करेंगे। मैं तो ठीक टैम पर आ गया था, देख लो।'

'तुम ही ठीक टैम पर न आओगे तो चीफ साहब को रपोट कौन

देगा ?' हरीराम की ओर उपेक्षापूर्ण दृष्टि डाल कर घृणा से उस ने कहा और अपनी साइकिल उठा कर बाहर चल दिया।

*

उस के विरुद्ध कब कौन-सा षड्यन्त्र रच दिया जाय इसका उसे संदेह रहने लगा था। छुट्टी होने पर उस ने शीघ्रता से थैला कन्धे पर डाला। दुपहर में उस ने सब रोटियाँ खा ली थीं पर आज थैला अन्य दिनों की अपेक्षा कुछ भारी था। विस्मय से उस ने रोटी के डिब्बे को खोल कर देखा....एक कागज में कुछ पुर्जे लिपटे रखे थे। उस ने अनुभव किया कि उसके हृदय की धड़कन तेज़ हो गयी है। आवेश में उस की मुट्ठी भिंच गयी, परन्तु फिर संयत होकर उस ने वह सामान पास ही अलमारी में डाल दिया।

बाहर पंक्ति के पहले सिरे पर फोरमैन चिल्ला-चिल्ला कर लोगों को अपने डिब्बे-थैले खोल कर दिखाने का आदेश दे रहा था। उस की बारी आ गयी थी। फोरमैन ने स्वयं डिब्बा-थैला हाथों में ले कर देखा, असन्तोष के कारण उस का मुँह फीका पड़ गया। सर्चर को सब की जेबें टटोलने का उस ने आदेश दिया, उस की जेबें भी स्वयं फोरमैन ने टटोलीं, परन्तु फोरमैन के चेहरे पर फिर निराशा छा गयी। जाते-जाते उस ने फोरमैन की ओर देखा। फोरमैन ने आँखें भूमि की ओर झुका ली थीं। गर्व से छाती उठा कर वह बड़े गेट की ओर चल दिया।

*

प्रातःकाल अन्तिम साइरन हो जाने पर गेट बन्द हो जाना चाहिये, फिर आधा घन्टा उस के खोले जाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, परन्तु व्यवहारिक रूप में ऐसा नहीं होता। साइरन सुन कर दूर से पैदल आने वाले दौड़ लगाना शुरू कर देते हैं। साइकिलों के पैडिल दुगनी गति से चलने लगते हैं। लोग हाँफते-हाँफते दो-तीन मिनट में

अन्दर पहुँच पाते हैं। पकी उम्र के बड़े-बूढ़े अन्दर आ कर घड़ी भर दम लेने के बाद ही हाज़िरी पर जा पाते हैं। परन्तु उस दिन वर्क्स मैनेजर ने साइरन के बाद ही गेट बन्द करवा दियाँ। वह गेट से बीस-तीस गज की दूरी पर ही था परन्तु वहाँ पहुँचने से पहिले ही चौकीदार ने जाली खोल दी।

अभी बीस-पचीस आदमी और भी थे जो हाँफते हुए चले आ रहे थे। निकट आ कर सभी उदास हो गये। आधा घन्टा देर में आने का दण्ड छः-आठ आना से कम नहीं होता।

पिछली बार वेतन के दिन घर जाने पर पत्नी ने उस से पूछा था, 'कितने हैं?'

'चौवन आठ आने।'

'अच्छा! मैंने पूरे पचपन का हिसाब लगाया था। बबुआ की टोपी इस महीने भी रह गयी।'

हाँफते हुए लोगों में से कितनों के बबुओं की टोपी इस बार भी रह जायगी, उसने सोचा। परन्तु तभी उस ने जो कुछ सुना उसे सुन कर उसे ऐसा लगा जैसे सारा दोष अकेले उसी का हो। वही झुकी कमर वाले बुज़ुर्ग हाँफते हुए कह रहे थे, 'घोड़े के पीछे और अफ़सर के आगे कौन समझदार जायेगा? एक आदमी के कारण इतने लोगों का नुकसान हो गया, ऐसे लड़ने-भिड़ने को ही जवानी बना रखी हो तो आदमी दंगल करे, अखाड़े में जाय। नौकरी में तो नौकर की ही तरह रहना चाहिये।'

उसका मन हुआ की बुज़ुर्ग के पास जा कर कुछ बातें करे। पर न जाने क्यों वह ऐसा न कर सका।

दिन भर वह यंत्रवत काम करता रहा। थकन के कारण शरीर चूर-चूर हो रहा था। परन्तु बैठ कर सुस्ता लेने को भी उस का मन नहीं हुआ।

कैन्टीन में जा कर उस ने चाय ली और अनुभव किया कि चाय फीकी है। पहले किसी दिन ऐसी बात होती तो वह कैन्टीन मैनेजर से शिकायत करता परन्तु आज आधी चाय छोड़ कर चला आया। ग्रीज और तेल लगा हुआ सामान उठाने के कारण हाथ गंदगी से भर गये थे। साइरन की आवाज़ उस के कानों में पड़ी तो उस ने काम बन्द किया। ऐसा लगता था कि साइरन यदि किसी कारण से न बजता तो वह उसी प्रकार यंत्रवत् काम करता रहता। जल्दी-जल्दी में उस ने दोनों हाथ कैरोसीन तेल में धो डाले। साबुन का डिब्बा टटोल कर देखा तो वह खाली था। भूमि पर से थोड़ी मिट्टी उठा कर वह नल की ओर चल दिया। पिछले तीन-चार महीनों की नौकरी में आज वह पहली बार मिट्टी से हाथ धो रहा था। भुरभुरी मिट्टी को पानी के साथ लगा कर उस ने हाथों में मला और फिर दोनों हाथ नल के नीचे लगा दिये। पानी के साथ मिट्टी की पतली पर्त भी बह चली। दूसरी बार मिट्टी लगाने से पहले उस ने हाथों को सूँघा और अनुभव किया कि हाथों की गंध मिट चुकी है। सहसा एक विचित्र आतंक से उस का समूचा शरीर सिहर उठा। उसे लगा जैसे आज वह भी घासी की तरह इस बदबू का आदी हो गया है। उस ने चाहा कि वह एक बार फिर हाथों को सूंघ ले लेकिन उस का साहस न हुआ। परन्तु फिर बड़ी मुश्किल से वह दोनों हाथों को नाक तक ले गया और इस बार उस के हर्ष की सीमा न रही। पहली बार उसे भ्रम हुआ था। हाथों में कैरोसीन तेल की बदबू अब भी आ रही थी।